गजेन्द्र व्याख्यान माला

चतुर्थ भाग

प्रवचनकार :

जैनाचार्य श्रीहस्तीमलजी महाराज साहब

सम्पादक :

श्रीशशिकान्त झा "शास्त्री"

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर-३

प्रकाशकीय

आध्यात्मिक-क्षेत्र का सदा से अग्रणी यह भारत, आज भौतिकता का पुजारी बनता जा रहा है। हर बात में, पाश्चात्य-आदर्श के प्रति, इसकी अभिरुचि इतनी सजग हो उठी है कि यह अपने पुरातन-लक्ष्य और आदर्शों से शनैः-शनैः पराङ्मुख होता नजर आता है। मानवता की उपासना और जन-कल्याण की भावना से विरहित-भारतीय-जन-मानस सम्प्रति विपरीत पथ का पथिक हो रहा है। जीवन-यात्रा की हर दिशा में, भौतिक हाय-हाय के सिवा अभी उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा है। अपना अतीत गौरव, देश-सम्मान तथा नैतिकमर्यादा का उसे अभी कोई भान नहीं है। वह तो येनकेनोपायेन अर्थसिद्धि को ही सर्वसिद्धि का मूल मानकर, उसी की साधना एवं आराधना में अनवरत निरत है—संलग्न है।

मानव समाज के लिए विशेषकर आर्यावर्तवासियों के लिए, यह एक परम चिन्तनीय समस्या है। जहां मूल में ही भूल भरी हुई हो, वहां विशेष की तो बात ही व्यर्थ। अध्यात्मरस रसिक कबीर के शब्दों में—"आए थे हरि भजन को, ओंटन लगे कपास" वाली बात अक्षरशः चरितार्थ समझनी चाहिये। जो मानव जीवन को उल्टी दिशा में ले जाते हैं, मानवता के विपरीत आचरण करते हैं, उन्हें क्या कहें ?

आचार्य प्रवर श्री हस्तीमल जी म० साहब का प्रवचन, ऐसे सत्पथ भूले बिसरे लोगों को एवं लक्ष्यच्युत जन-मानस को, पथारुढ़ करने तथा लक्ष्य प्राप्त कराने के लिए एक दिशा-दर्शक प्रकाश पुंज है। इसे, दोष-दूषित-दृष्टि को सम्यग्दर्शन कराने की दिशा में एक दिव्यांजन भी कहें तो कुछ अनुचित नहीं होगा। यह देहात्मवादी को यथार्थस्थिति का बोध कराने के लिए, परमौषध या रामबाण है। आचार्यश्री सरल भाषा एवं सुगम शैली में अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय को हृदयस्पर्शी बनाने में समर्थ और किस रूप में सक्षम हैं, यह प्रवचन पढ़ने से स्वतः ज्ञात होगा। "हाथ कंगन को आरसी क्या।"

"गजेन्द्र व्याख्यान माला" के नाम से प्रकाशित होने वाले, उनके चातुर्मासिक प्रवचनों का यह चतुर्थ भाग, प्रकाशित करते हुए, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल को, अतीव प्रसन्नता तथा प्रमोद का अनुभव हो रहा है। ऐसे आध्यात्मिक संत के, आध्यात्मिक प्रवचन को अध्यात्म प्रेमी पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए, मंडल परिवार अपने को कृतकृत्य मानता तथा महावीर निर्वाण के प्रसंग पर इसके प्रकाशन से कर्म निर्जरा का भागीदार भी समझता है।

मंडल को इससे भी परमप्रसन्नता है कि इसके प्रकाशन में होने वाले व्यय भार को, "श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ (रजिस्टर्ड) अजमेर" ने अपने ऊपर उठाकर, मंडल को जो अर्थ सहायता प्रदान की है, उसके लिए मंडल संघ का आभारी है। और आशा करता है कि समाज के दूसरे-दूसरे संघ वाले भी, ऐसी ही उदारता का अनुकरण कर समाज को सद्बोध दिलाने में समय-समय पर पहल कर अपनी सहृदयता एवं दानशीलता का परिचय देते रहेंगे।

इस पुस्तक के अतिशीघ्रता से प्रकाशन में इण्डिया प्रिण्टर्स के प्रबन्धक और कर्मचारियों ने जिस आत्मीयता और तत्परता का परिचय दिया, तदर्थ मण्डल उन सबका आभारी है।

भवदीय

श्री सोहननाथ मोदी — अध्यक्ष

श्री चन्द्रराज सिंघवी — मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

प्रकाशन द्रव्य सहायक :

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ

अजमेर (राजस्थान)

सम्पादकीय

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, कल्याण चाहता है और अपने जीवन को अधिक से अधिक समृद्ध तथा समुन्नत देखना चाहता है। ज्ञान, विवेक, प्रतिभा, साहस और अद्भुत सूझ-बूझ के कारण मानव, जीव-जगत का सिरमौर है एवं उसकी सुख कामना भी सबसे बढ़ी-चढ़ी है। उसके वामनतन और क्षणभंगुर जीवन में, सागर के उत्ताल तरंगों की तरह, विविध विराट् आकांक्षाएं तरंगित हो रही हैं, ठाठें मार रही हैं। वह त्रिभुवन का वैभव, अपने में समाहित करने के प्रयास में, न जाने क्या से क्या कर रहा और करना चाहता है। मानव के इस कर्तृत्व का न कोई ओर है न छोर।

किन्तु जब हम गहराई से इस पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि मनुष्य का यह सारा प्रयास, समस्त उद्योग, मात्र भौतिक सुख सुविधा, मान प्रतिष्ठा एवं पद-परितोष के लिए ही है। वह शरीर से शरीर और इन्द्रियों से इन्द्रियों की संतुष्टि के लिए ही सतत कार्य एवं विचाररत बना रहता है। उसने अपने सुख का मापदण्ड आध्यात्मिक नहीं, भौतिक मान रखा है। आज उसे सच्चरित्रता, क्षमाशीलता, करुणापरायणता परोपकारिता एवं सहिष्णुता आदि मानवीय उच्च गुणों के स्थान में कोठी-बंगले, कार, टेलीवीजन, फ्रीज, फोन, सेण्ट, इत्र, साबुन, भड़कीले वस्त्र तथा देह-गेह के विविध साधन, प्राणों से भी बढ़कर प्रिय तथा अपेक्षित दीखते हैं। इनकी उपलब्धि के लिए वह चाहे जैसा करने को तैयार रहता है। संसार के बड़े-बड़े लोमहर्षक युद्ध, बड़े-बड़े भीमकाय उद्योगों का संचालन एवं अनेक जीवट और जवांमर्दी के कार्य भी, इसी भौतिक सुख प्राप्ति के लिए मानव करता रहा तथा करना चाहता है।

वह भूलकर भी कभी यह नहीं सोचता कि—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्य परंमनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिः, यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥"

यानी इस शरीर से इन्द्रियां अलग हैं, इन्द्रियों से मन अलग है, मन से बुद्धि अलग है और जो बुद्धि से भी अलग है, वह हमारी आत्मा है—जिसे हम, मैं शब्दों से अभिव्यक्त करते हैं।

मानव जीवन की सार्थकता काया के पिंजरे में पड़े आत्म विहग को बन्धन मुक्त करने में है। जैसे गेह में देह वैसे देह में भी आत्मा वास करता है। यह उसका विभाव है, स्वभाव नहीं जो प्राक्तन कर्मों का फल है। घर की साफ-सफाई, रंग-रोगन की शोभा और सार्थकता उसके भीतर बसने वाले की खुशियाली पर निर्भर करता है। बन्धनमय जीवन से मुक्त होकर कैसे आत्मा को पूर्व स्वरूप में, सच्चिदानन्द की श्रेणी में पहुंचाया जा सकता है ? मानव जीवन का यही परम चिन्त्य है, कर्त्तव्य है और अन्तिम साध्य है।

वस्तुतः आत्म-कल्याण ही मानव जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है, प्रश्न है, जो क्षण-क्षण, पल-पल समुचित समाधान की आकांक्षा रखता है। जगत् के सभी साधु-महात्मा इसी के समाधान की दिशा में, आदिकाल से आज तक अपना प्रयास करते आ रहे हैं। वे अपनी कथनी और करनी की एकरूपता के संग, जीवन-यात्रा के पथ पर अग्रसर भी हो रहे तथा पीछे वालों के लिए पथ चिन्ह भी छोड़ते जा रहे हैं।

प्रातः स्मरणीय परम श्रद्धेय विलक्षण विचक्षण आचार्यप्रवर श्रीहस्तीमल जी महाराज सा० उन्हीं विश्वोपकारी विभूतियों में एक हैं, जिनका मानस परोपकार परायणता तथा स्वपर की कल्याण भावना से सतत प्रमुदित रहता है। आप अपने साधकों के बीच प्रायः प्रवचन देते ही रहते हैं। आपके प्रवचन का साक्षात् सम्बन्ध आत्म

कल्याण, आत्म-जागरण एवं आत्मोत्थान से होता है। प्रवचन का मुख्य विषय आत्महित विषयक होता है। इसमें रोचकता एवं मनोरंजकता जितनी अपेक्षित नहीं, उससे बढ़कर आत्मोत्थान का भाव अपेक्षित रहता है।

आपकी प्रवचनशैली अनुभूति से अनुस्यूत तथा यथार्थता से ओत-प्रोत रहती है। हम पूर्व कर्मबन्ध के कारण उस प्रवचन-मन्दाकिनी में अवगाहन करके भी शान्ति, शीतलता आदि सद्‌गुणों से रहित, कोरे के कोरे रह जांय, यह बात अलग है। परन्तु यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं किया जा सकता कि आचार्यप्रवर का प्रवचन हृदय को छूने में, मन को जगाने में, भावों को आन्दोलित करने में सर्वथा सक्षम और समर्थ है।

आपके प्रवचनों का संग्रह, आज से बहुत पहले "गजेन्द्र मुक्तावली" भाग प्रथम और द्वितीय तथा "आध्यात्मिक साधना एवं आध्यात्मिकआलोक" के नाम से भी प्रकाशित हो चुके हैं। उसके बाद "प्रार्थना प्रवचन" और "गजेन्द्रव्याख्यान माला" के नाम से तीन भाग प्रकाशित हुए। अब यह चतुर्थ भाग अजमेर से जहां इस वर्ष आचार्य श्री का चातुर्मास है, उसकी स्मृति को अमर बनाये रखने के लिए, प्रकाशित किया जा रहा है।

परम सौभाग्य से इस चतुर्थ भाग का सम्पादन—दायित्व मेरे जिम्मे आया। मैंने भरसक प्रयत्न भी किया कि इस महामहिम प्रवचन के सम्पादन में कोई त्रुटि न रहे। मगर कार्य की बहुलता, छद्‌मस्थता तथा प्रमादादि दोष के कारण संशोधन एवं सम्पादन में त्रुटियों का होना असंभव नहीं कहा जा सकता। मैं न तो अपनी इस कमजोरी से अनजान हूँ और न पाठकों की सहज सुलभ क्षमाशीलता से ही। परन्तु विश्वास है कि पाठक मेरी त्रुटियों के लिए मुझे क्षमा करेंगे तथा प्रवचन के सदाशय को हृदयंगम कर इस प्रयास को सफल बना इससे लाभ उठायेंगे।

इस प्रवचन के संक्षिप्त-आलेखन में श्री धर्मपाल मेहता तथा मेरे एवं प्रेस के बीच सम्पर्क बनाये रखने में श्रीआनन्दमल जी चोरडिया अजमेर का सहयोग भी सराहनीय रहा। एतदर्थ मैं आप दोनों का आभारी हूँ।

इस प्रवचन-प्रकाशन में जोर लगाने वाले श्रीमान् उमरावमल जी ढ़ढ़्ढ़ा, श्रीलाल जी कावड़िया, अमरचन्द जी दुधेड़िया, सरदार-मल जो बोहरा तथा भंवरलाल जी कोठारी आदि सज्जनों का यदि हार्दिक सहयोग प्राप्त न हुआ होता तो संभव इसका लेखन एवं प्रकाशन सर्वथा असंभव ही था। अतएव आप सबको इस कार्य की समाप्ति पर साधुवाद न कहना, मेरे लिए उचित नहीं होगा।

सुज्ञेषु किं बहुना—

महावीर भवन
अजमेर
दीपावली
१०-११-७७

विनयावनत
शशिकान्त झा

अनुक्रमणिका

गजेन्द्र व्याख्यान माला

(भाग ४)

धर्म-साधना

वीरः सर्व सुरासुरेन्द्र महितो, वीरंबुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो ।
वीरे श्रीधृति कांति कीर्तिरतुला, श्रीवीर भद्रं दिश ।।

सुबाहुकुमार की धर्म साधना

बन्धुओ! अभी आप सबके समक्ष हीरामुनिजी के द्वारा श्रीमद् विपाक सूत्र के प्रथम अध्याय में सुबाहुकुमार की भगवद्भक्ति का एक नमूना प्रस्तुत किया गया है, यह उसकी धर्म-साधना है ।

वीतराग के चरणों में पहुंच कर और उनकी वाणी सुनकर एक सच्चा साधक क्या ग्रहण करता है ? वह केवल संत महात्माओं की विद्यमानता में ही नहीं, परोक्ष में भी गुरुसाक्षिक ग्रहण किए हुए वीतराग भगवान् के मार्ग पर किस तरह बढ़ता चलता है, यह सुबाहुकुमार के जीवन से अच्छी तरह समझ में आ सकता है ।

सुबाहुकुमार के धर्म चिन्तन का रूप अभी आप शास्त्र में सुन चुके हैं । वह पौषधशाला में बैठा हुआ ध्यान में सोच रहा है कि यदि श्रमण भ. महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए इस हस्तिशीर्ष नगर में पधार जावें तो मैं उनके पवित्र चरणों में दीक्षित हो जाऊं !

संसार के इन समस्त प्रपंचों से सदा-सदा के लिए अपने को अलग कर लूं। भोगों से कितनी उपरति और कितना वर्धमान परिणाम! उसने ये विचार भगवान् के सामने रहते हुए नहीं किये, और प्रभु की प्रेरणा से भी नहीं किये। परन्तु ये विचार किए प्रभु के परोक्ष में जबकि भ. महावीर हस्तिशीर्ष नगर में विद्यमान नहीं थे।

इससे यह बात स्पष्ट झलकती है कि एक सच्चा साधक, साधु एवं गुरुजनों से उपदेश सुनकर धर्म मार्ग पर जो गति करता है, वह उसकी गति बिना रुकावट के और बिना किसी के कहे सुने तथा बिना भय एवं लालच के निरन्तर अबाध गति से चलती रहती है। आपको और हमको भी इसी प्रकार की गति का रूप लाना है। धर्म के प्रति तन्मयता और उत्साह दिखाना है। सच्ची निष्ठा से ही साधना आगे बढ़ पाती है।

प्रभु नहीं, प्रभुवाणी का अवलम्ब !!

यह सच है कि आज आपके सामने भगवान् के साक्षात् समागम का लाभ नहीं है। आंखों के सामने प्रभु का दिव्यरूप विराजित नहीं है, परन्तु इससे क्या ? आप भी भगवान् की वाणी सुन रहे हैं, और हम भी भगवान् की वाणी को पढ़ रहे हैं। यद्यपि शरीर से तो साक्षात्कार नहीं है, परन्तु भगवान् की वाणी का साक्षात्कार तो आज भी हम लोगों को हो रहा है। मेघ की स्वच्छ जल धारा के अभाव में नहर और बाँधों से भी खेत की सिंचाई एवं फसलें तैयार की जाती हैं।

यह क्या है ? सुख विपाक या कोई अन्य-सूत्र। उसकी शब्दावली वह क्या है ? भगवान् की वाणी ही तो है। हाँ, भगवान् की वाणी को कहने वाला, व्यक्त करने वाला माध्यम दूसरा है। परन्तु वाणी तो वही है, दूसरी नहीं है। तो हमको वाणी के साक्षात्कार का सौभाग्य पाकर, सोचना है कि हमारी साधना कैसी हो ? हमारा धार्मिक-आचरण किस प्रकार का हो !

भावना की तेजस्विता !!

साधना छोटी है या बड़ी इसका विचार नहीं करना है। परन्तु उसमें भावना की तेजस्विता कितनी है, भावों का ऊर्जस्व कितना है इसका विचार करना है। यदि तेजस्विता नहीं तो बड़ी से बड़ी साधना भी छोटी है। भावना की तेजस्विता शरीर में प्राणों के समान है। शरीर में प्राण होंगे, आत्मा होगी, तब तो छोटा या बड़ा जैसा भी शरीर होगा, वह टिक सकेगा, गति और प्रगति कर सकेगा, भावों को ऊँचा उठा सकेगा। और यदि उसमें से आत्मा निकल जाये तो वह टिक नहीं सकेगा, गति भी नहीं कर सकेगा। जो झाड़ भयंकर आँधी और ववण्डरों में टक्कर खाकर भी नहीं गिरता, वही वृक्ष अपनी चेतनता-सजीवपन के जाने से बिना हवा के भी धराशायी हो जाता है, गिर जाता है। जब तक वृक्ष में जीवत्व है, तब तक हवा के कितने ही बड़े-बड़े झोंके आएं या नदियों की बाढ़ें आवें, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। परन्तु जब मूल में-जड़ में से जीव खत्म हो गया—निकल गया तो निश्चय वह वृक्ष गिर पड़ेगा।

प्राणि मात्र की एकसी दशा होती है। वह प्राणों की मौजूदगी में ही सबल बना रहता है, प्राण निकलने के बाद नहीं। एक बलशाली बड़ा हाथी, घोड़ा, बैल आदि, धक्का देने पर भी तब तक नहीं गिरता, जब तक उसमें प्राण रहता है। प्राण निकल जायें तो क्या वह खड़ा रह सकेगा ? नहीं, वह स्वयं गिर जायेगा। एक पहलवान चलते-चलते हृदय की गति रुकी नहीं कि गिर गया। आँधी में, पानी में अपने पिण्ड को लेकर चलनेवाला गिरा नहीं। परन्तु वही आदमी शरीर में से आत्मदेव के निकल जाने पर, बिना झोंके के भी गिर जायेगा। ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है कि उसमें आत्मदेव का तेज नहीं है। उसके बिना पिण्ड का कोई मोल नहीं है।

इसी प्रकार तप की भी दो स्थितियां हैं—बाह्य और अन्तर। बाहरी शरीर साधना है और अन्तर में भावना है। यदि अन्तर में तेजस्वी भावना होगी तो साधना का मूर्तिमान पिण्ड खड़ा रहेगा,

गति करेगा, आगे बढ़ेगा और लक्ष्य पर पहुँचेगा। परन्तु यदि उसमें भावना की तेजस्विता निकल गयी तो वह आगे गति नहीं कर सकेगा, बढ़ नहीं पायेगा और वहीं ठप्प-स्थिर हो जायेगा। सुबाहु में तेजस्विता थी तो उसकी साधना आगे बढ़ती गयी। संसार की, परिवार की और कुटुम्ब की, विविध विघ्न बाधाओं के बावजूद भी उसकी साधना समाप्त नहीं हुई, गिरी नहीं और वे साधना से च्युत नहीं हुए। क्योंकि भीतर में भावना का तेज था, दिव्य बल था, सुदृढ़ आत्मा थी। जिस उत्साह और उमंग से भौतिक-भोगों का त्यागकर, साधना-पथ का अवलम्बन लिया था, उसमें क्रमशः वृद्धि ही होती रही। बाल सूर्य की तरह क्षण-क्षण पल-पल में तपस्तेज उग्र ही होता गया।

अभी मुनिजी कह गये कि लोग धर्म-स्थानक और धर्म क्रिया में बैठकर भी कुछ और ही सोचने लगते हैं। पता नहीं कि घर-गृहस्थी की बात सोचते हैं या धर्म पर ही प्रकारान्तर से चिन्तन करते हैं। इसका कारण है कि भीतर में आत्मा जब कमजोर हो जाती है तो सारा शरीर ही जड़वत् हो जाता है। शरीर स्वयं गति नहीं करता, गति करती है आत्मा। आत्मा में जब भावना का तेज नहीं हो तो, उसके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रिया में जड़ता ही झलकेगी। उसमें आगे बढ़ने की ताकत नहीं होगी। गति और प्रगति के लिए भावना की तेजस्विता चाहिये।

भ० महावीर का हम जीवन देखते हैं, उपदेश देखते हैं और अनेकानेक जन्मों की साधना देखते हैं, तो स्पष्ट मालूम होता है कि साधक को साधना में, तेजस्विता के रूप में आत्मा है, तब तो वह आगे बढ़ती जायेगी। यदि तेजस्विता नहीं है तो दिनों की क्या? वर्षों की साधना भी काम नहीं देगी। वह बलवती नहीं होगी और उसका तेज जगत् के सामने नहीं चमकेगा। इसलिए हर साधक को, चाहे वह ज्ञान की, दर्शन की, चरित्र या तप की साधना क्यों न करे, उसमें तेजस्विता लाने की अपेक्षा है। तेजस्विता से ही साधना प्राणमयी बनती है।

साधना और उसके अंग

जिनके द्वारा हम अपने आपको साफ कर पावें, तैयार कर पावें, आन्तरिक कमजोरियों को दूर कर सकें, अभीष्ट की मंजिल याने सिद्धि तक पहुँच पावें, ऐसी क्रिया को साधना कहते हैं। साधना विविध प्रकार की होती हैं। साधना की प्रवृत्ति में जो सहायक होते हैं, उसको साधन कहते हैं। साध्य, साधन और साधना ये तीनों बराबर होते हैं तो सिद्धि मिलती है। इसके लिए आपको किसी से कुछ मांगने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

किसी किसान के यहाँ जाने का अवसर मिले तो आप देखेंगे कि यदि किसान अनुभवी-तजुर्बेकार है, सावधान है, भूमि बराबर है, बीज बराबर है और सिंचाई भी बराबर है, तो फसल के लिए उसे किसी से कुछ मांगना नहीं पड़ता। वह अपना कर्त्तव्य करते हुए, चुपचाप, लेटा-लेटा देख रहा है कि मेरा स्वप्न सफल हो रहा है, धरती की छाती पर धान धीरे-धीरे ऊँचा आ रहा है, फल लग गये हैं, छोटी-छोटी बेलों में मतीरे और काचरे लग गये हैं। हवा की लहरों में धानों की बालियां लहरा रही हैं, जिन्हें देखकर उसका हृदय भी लहरा रहा है।

उसने क्या किया ? किसी से कुछ मांगनी की या अपना कर्तव्य ? जो इस फसल के लिए अपेक्षित थे, तन मन से जुड़कर, उसे पूरा किया। ऐसे ही साधना में मांगनेवाले, परकी अपेक्षा रखनेवाले, सही रूप में साधना के महत्व को भूल रहे हैं। ऐसे ही लोगों को भोला और अनजान कहा जाता है।

जैन की साधना

आप अपनी साधना को व्यावहारिक वस्तु न समझें। आपको ख्याल होना चाहिए कि आप भगवान् महावीर के भक्त और साधक कहलाते हैं। आपका दर्जा इतना ऊँचा है, जो देवों को भी दुर्लभ है। परन्तु आप जिस पद पर पहुँचे हैं, उसके अनुरूप अपनी भावना का

निर्माण नहीं कर रहे हैं। आप पर पर तो बैठे हैं जैन के—जैन के पद पर बैठनेवाले को, अपने विकारों को, मानसिक दुर्बलताओं को जीतने का यत्न करना चाहिये। क्योंकि काम, क्रोध, मद, लोभ और राग, द्वेप को जीते वही जैन होता है। जैसा कि कहा है—एकप्पा अजिहसत्तू कसायाइंदियाणिअ, ते जिणित्तू जहानायं, विहरामि जहासुहं। दोष मुक्त होने से वह सदा सर्वत्र निर्भय रहता है। परन्तु जिस व्यक्ति को उल्टे क्रोध और काम आदि जीतले, वह क्या कहलायेगा ? हम आज अपने भक्तों को इस रूप में देखते हैं कि क्रोध ने उनको जीत लिया, लोभ ने जीत लिया है।

चतुर्मास के इस धर्मकाल में कुछ बहनें तपस्या कर रही हैं, परन्तु उनमें भी ऐसी बहुत थोड़ी बहिनें होंगी जो लालच के प्रसंग आने पर उससे मुख मोड़ ले, उसे जीत ले। भोजन से मुख मोड़नेवाली बहन से तपस्या के प्रसंग में बन्धुजनों से मिलनेवाली भेंट से मुँह मोड़ने को कहा जाय तो थोड़ी ही बहिनें होंगी जो भेंट को स्वीकार न करें। वे अपने सगे सम्बन्धियों के आने के प्रसंग से पौषध के लाभ को छोड़ सकती है, परन्तु धन के लाभ को नहीं। वे पौषध की महिमा को स्वीकार तो करती हैं, किन्तु लाभवाले दिन में नहीं। कारण उन्होंने अन्तरंग दोषों पर विजय नहीं पायी।

मेरा मन चाहता है कि आज यहाँ कुछ ऐसी नमूनेदार बाई मिले जो धर्म के इस प्रसंग में भेंट देनेवाले भाई को साफ-साफ कहे कि इस समय मुझको कुछ नहीं चाहिये। मैं तो हमेशा आपसे लेती रहूंगी और आप देते रहेंगे। परन्तु इस समय हमने तप किया है। इस समय कुछ भी लेना लोभ के आगे, लालच के आगे, अपनी हार और हँसाई मानने जैसी बात होगी। ऐसी साफ-साफ बोलनेवाली तपस्विनी को धन्यवाद है।

लोक व्यवहार में कभी ऐसा भी मौका आता है कि व्याही लोगों के यहाँ जाकर भी आप नहीं खाते हैं। घर में शोक आदि होने से भी आप अपने सगे-सम्बन्धी के यहां खाने से इन्कार कर देते हैं।

मगर इससे आपसी प्रेम में कोई बाधा नहीं आती। मैं आपके सभी रीति-रिवाजों से परिचित नहीं हूँ मगर इतना जानता हूँ कि कारण विशेष में आप संबन्धी के यहाँ नहीं खाते हैं और उसको बुरा नहीं माना जाता है। क्या तप के समय में भी हाथ जोड़कर यदि यह कह दिया जाये कि अगर आपको देना है तो दान दीजिए, व्रत नियम कीजिए, परन्तु तप के निमित्त से दे रहे हैं, यह हम नहीं लेंगे। इस तरह की स्पष्टवादिता से समाज का सारा ढांचा ही बदलकर सही रूप में आ जायेगा।

तप और प्रभावना

तप भी प्रभावना का अंग माना गया है। सम्यक्त्व के विचार में एक प्रभावना का भी बोल रखा गया है। आठ कारणों से धर्म की प्रभावना होती है। परन्तु आज तो आप प्रभावना की एक ही बात समझते हैं कि बोरी भर पताशे लाए और मुट्ठी भर हरेक को दे दिए, बस प्रभावना हो गयी। नहीं तो नारियल बाँट दिए और प्रभावना हो गयी। परन्तु प्रभावना के वास्तविक मर्म को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। प्रभावना का स्वरूप बताते हुए कहा है कि—'प्रकर्षेण भाव्यते दीप्यते शासनं यया सा प्रभावना' जिस प्रवृत्ति से, आचरण से, धर्म-शासन का तेज बढ़े, शोभा बढ़े, उसका नाम है प्रभावना। प्रभावना शब्द में 'प्र' और भावना है तो 'प्र' का मतलब अधिकता से और भावना का मतलब है शोभित करना।

आज कोई तपस्विनी बाई तप करके कुछ देने आदि की प्रभावना नहीं की तो लोग कहने लग जाते हैं कि रोटियाँ बचानी थीं, पैसा बचाना था तो इतने दिनों तक भूखी रही। बिना दान के, खर्च के भी क्या कोई तपस्या होती है? इस प्रकार तप के प्रति हीन भावना दिखाने का, व्यंग्य या चुटकी लेने का मौका नहीं आवे इसलिए गृहस्थ भाई-बहनें तप के साथ में कुछ-कुछ देने आदि की प्रवृत्ति करते हैं। दस दिन के खाने में जो खर्च होता उससे कुछ अधिक खर्च करके, आलोचकों का मुँह बंद कर देते हैं, और खर्च बचाने के

निर्माण नहीं कर रहे हैं। आप पर पर तो बैठे हैं जैन के—जैन के पद पर बैठनेवाले को, अपने विकारों को, मानसिक दुर्बलताओं को जीतने का यत्न करना चाहिये। क्योंकि काम, क्रोध, मद, लोभ और राग, द्वेष को जीते वही जैन होता है। जैसा कि कहा है—एकप्पा अजिहसत्तू कसायाइंदियाणिअ, ते जिणित्तू जहानायं, विहरामि जहासुहं। दोष मुक्त होने से वह सदा सर्वत्र निर्भय रहता है। परन्तु जिस व्यक्ति को उल्टे क्रोध और काम आदि जीतले, वह क्या कहलायेगा ? हम आज अपने भक्तों को इस रूप में देखते हैं कि क्रोध ने उनको जीत लिया, लोभ ने जीत लिया है।

चतुर्मास के इस धर्मकाल में कुछ बहनें तपस्या कर रही हैं, परन्तु उनमें भी ऐसी बहुत थोड़ी बहिनें होंगी जो लालच के प्रसंग आने पर उससे मुख मोड़ ले, उसे जीत ले। भोजन से मुख मोड़ने-वाली बहन से तपस्या के प्रसंग में बन्धुजनों से मिलनेवाली भेंट से मुँह मोड़ने को कहा जाय तो थोड़ी ही बहिनें होंगी जो भेंट को स्वीकार न करें। वे अपने सगे सम्बन्धियों के आने के प्रसंग से पौषध के लाभ को छोड़ सकती है, परन्तु धन के लाभ को नहीं। वे पौषध की महिमा को स्वीकार तो करती हैं, किन्तु लाभवाले दिन में नहीं। कारण उन्होंने अन्तरंग दोषों पर विजय नहीं पायी।

मेरा मन चाहता है कि आज यहाँ कुछ ऐसी नमूनेदार बाई मिले जो धर्म के इस प्रसंग में भेंट देनेवाले भाई को साफ-साफ कहे कि इस समय मुझको कुछ नहीं चाहिये। मैं तो हमेशा आपसे लेती रहूंगी और आप देते रहेंगे। परन्तु इस समय हमने तप किया है। इस समय कुछ भी लेना लोभ के आगे, लालच के आगे, अपनी हार और हँसाई मानने जैसी बात होगी। ऐसी साफ-साफ बोलनेवाली तपस्विनी को धन्यवाद है।

लोक व्यवहार में कभी ऐसा भी मौका आता है कि व्याही लोगों के यहाँ जाकर भी आप नहीं खाते हैं। घर में शोक आदि होने से भी आप अपने सगे-सम्बन्धी के यहां खाने से इन्कार कर देते हैं।

मगर इससे आपसी प्रेम में कोई बाधा नहीं आती। मैं आपके सभी रीति-रिवाजों से परिचित नहीं हूँ मगर इतना जानता हूँ कि कारण विशेष में आप संबन्धी के यहाँ नहीं खाते हैं और उसको बुरा नहीं माना जाता है। क्या तप के समय में भी हाथ जोड़कर यदि यह कह दिया जाये कि अगर आपको देना है तो दान दीजिए, व्रत नियम कीजिए, परन्तु तप के निमित्त से दे रहे हैं, यह हम नहीं लेंगे। इस तरह की स्पष्टवादिता से समाज का सारा ढांचा ही बदलकर सही रूप में आ जायेगा।

तप और प्रभावना

तप भी प्रभावना का अंग माना गया है। सम्यक्त्व के विचार में एक प्रभावना का भी बोल रखा गया है। आठ कारणों से धर्म की प्रभावना होती है। परन्तु आज तो आप प्रभावना की एक ही बात समझते हैं कि बोरी भर पताशे लाए और मुट्ठी भर हरेक को दे दिए, बस प्रभावना हो गयी। नहीं तो नारियल बाँट दिए और प्रभावना हो गयी। परन्तु प्रभावना के वास्तविक मर्म को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। प्रभावना का स्वरूप बताते हुए कहा है कि—'प्रकर्षेण भाव्यते दीप्यते शासनं यया सा प्रभावना' जिस प्रवृत्ति से, आचरण से, धर्म-शासन का तेज बढ़े, शोभा बढ़े, उसका नाम है प्रभावना। प्रभावना शब्द में 'प्र' और भावना है तो 'प्र' का मतलब अधिकता से और भावना का मतलब है शोभित करना।

आज कोई तपस्विनी बाई तप करके कुछ देने आदि की प्रभावना नहीं की तो लोग कहने लग जाते हैं कि रोटियाँ बचानी थीं, पैसा बचाना था तो इतने दिनों तक भूखी रही। बिना दान के, खर्च के भी क्या कोई तपस्या होती है? इस प्रकार तप के प्रति हीन भावना दिखाने का, व्यंग्य या चुटकी लेने का मौका नहीं आवे इस-लिए गृहस्थ भाई-बहनें तप के साथ में कुछ-कुछ देने आदि की प्रवृत्ति करते हैं। दस दिन के खाने में जो खर्च होता उससे कुछ अधिक खर्च करके, आलोचकों का मुँह बंद कर देते हैं, और खर्च बचाने के

लिए तप नहीं किया इसकी भी सफाई दे देते हैं। इस तरह अनेक शंकाओं के समाधान रूप से यह प्रभावना प्रचलित रही है।

वस्तु स्थिति यह है कि आत्मा की विशुद्धि और धर्म को दिपाने के लिए तप किया जाता है। धर्म को उजागर करने के लिए मुनिजन भी तप करते हैं। परन्तु उनकी प्रभावना का रूप दूसरा है? क्योंकि उनके पास खरचने को पाई भी नहीं है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र व तप की आराधना के लिए वे अपनी विद्वत्ता से स्वसमाज एवं परसमाज को आकर्षित करते हैं। त्याग से प्रभावित करते हैं। उन लोगों के जो मतान्तर को मानने वाले हैं, विवाद करने वाले हैं, अपने सिद्धान्त का सही और कारगर ढ़ंग से प्रतिपादन करके, दिल और दिमाग को हिला देते हैं, सिर झुकवा देते हैं। यह पर समाज में उन मुनियों की धर्म प्रभावना है। जैन साधु के जीवन में, त्याग तप के संग विद्वत्ता का, धर्म प्रभावना के क्षेत्र में अच्छा प्रभाव पड़ता है। लोग कहने लग जाते है कि हमने बहुत विद्वान् देखे हैं, परन्तु ये सन्त विद्वान् और अच्छे वक्ता हैं, साथ ही इनके जीवन में तप भी है। इनकी *कितनी कठोर साधना है और* कितनी सादी वेषभूषा है? ये इतने त्यागी और इतने विद्वान् हैं। ओहो! इनके जैसे थोड़े ही संत होंगे? इस तरह दर्शकों के मन पर पड़ने वाला प्रभाव हमारी सच्ची धार्मिक प्रभावना है।

धर्म को नहीं लजायें

साधक दो प्रकार के होते हैं, एक धर्म को दिपाने वाला और एक लजाने वाला। भ. महावीर ने कहा—ऐ मानव! याद रख कि ऐसा कोई काम नहीं करना जिससे धर्म की, *सिद्धान्त की प्रभावना* में कमी आवे, शासन लजाये। किसी को यह कहने को मौका नहीं मिले कि यह धर्म को लजाने वाला है, छलने वाला है। हाँ, यदि शासन के दिपाने को बात कर सको तो बहुत अच्छी बात है।

आज लोग आपसी लेन-देन में, खाने-पीने में, व्यावहारिक बातों में, परस्पर सरे आम बाजार में लड़ने लग जाते हैं, हाथापाई

करने पर उतारू हो उठते हैं। और छोटी-छोटी बातों को लेकर न्यायालय तक पहुँच जाते हैं। जिसको आपस में घर बैठे निपट सकते थे, पंचायत में सुलझा सकते थे, उसके लिए बाजार में खड़े होकर एक-दूसरे से लड़ने लगे, माँ-बाप की गालियाँ देने लगे यह कितना बुरा है। इस प्रकार समाज एवं सम्प्रदाय के विवाद में लड़ झगड़कर कलह कोलाहल कर यदि कोई द्वेष बढावे, तो यह धर्म को लजाने की बात है, आत्मा को नीचा दिखाने की बात है।

शास्त्र का आदेश है कि धर्म को दिपा नहीं सको तो कम से कम इतना हर एक को ध्यान रखना ही चाहिये कि यदि हम संसार में, मानव कुल में तथा जैन घर में जन्मे हैं तो ऐसी प्रवृत्ति नहीं करें कि जिससे धर्म की शान में कोई फर्क आवे, बट्टा लगे। यदि ज्ञानवान् हैं तो ज्ञान से धर्म को दिपाइए, श्रद्धावान् हैं तो श्रद्धा से और व्रत नियम करने की क्षमता है तो व्रत से धर्म को जगावें और अवश्य दीपावें।

धर्म दीपाने के अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे कभी किसी भाई की असमय में पत्नी चल बसी या कि किसी बहन का पति चल बसा, तब वह अपने उच्च घराने की मर्यादा का विचार कर शील धर्म का आजीवन पालन करे तो धर्म की शोभा होगी। विजय कंवर ने घर में रहकर वर्षों पति वियोग में धर्म का पालन किया—जिससे शासन की बड़ी शोभा हुई।

हर आदमी धर्म की प्रभावना अर्थ के द्वारा नहीं कर सकता, वह तो व्रत नियम की साधना से ही कर सकता है। श्रीमन्त गृहस्थ धर्म की प्रभावना प्रचुर अर्थ के त्याग से करता है। तो किसी के भरी जवानी में, शील व्रत के स्वीकार करने से भी प्रभावना होती है। स्वस्थ शरीर और भरी जवानी में आदमी यह सोचे कि खाते-पाते, मौज शौक से अभी तक जीवन बीता है, अब इसी स्वस्थता में भोग से निवृत्ति ले लूं। कारण रोग ग्रस्त होने पर शरीर की लाचारी से शील व्रत का नियम लेना तो मजबूरी का नियम होगा। एक नौजवान

जिसको कि एक बच्चा और बच्ची है, उसके द्वारा दृढ़तापूर्वक लिया हुआ शील व्रत का नियम, धर्म की एक अच्छी प्रभावना कही जायेगी।

तप की महिमा

शरीरधारी को कभी एक दिन भी अन्न के विना रहना पड़ता है, तो उसकी कैसी दशा हो जाती है ? यह किसी से छिपी नहीं है। मगर सुकुमार शरीर वाली इन वहिनों ने तीस-तीस दिन के उपवास कर लिए और आज उसकी पूर्ति भी हो गयी। कितने बड़े साहस की वात है कि इन्होंने भूख के दुःख को—क्षुधा की ज्वाला को सहर्ष झेल लिया। तन-मन पर कुछ दूसरा असर नहीं हुआ।

यदि आप दिन भर किसी अफसर के पास जाते रहें और कहें कि आज कसाईखाना वन्द कर दें तो भी वह बन्द नहीं हो सकता है। परन्तु तप का यह सात्विक प्रभाव है कि जहाँ इस नगर में कम से कम पांच सौ जानवर नित्य कत्ल होते, वह एक दिन के प्रयास से वन्द हो गया और जिलाधीश अनायास बिना ननुनच किये, हिंसा बंदी को मंजूर कर गये और कसाईखाना बन्द करवा दिया। जवकि आपके हजारों खर्च करने पर भी यह नहीं हो सकता, वह तप के प्रभाव से अनायास हो गया। इसे तप की ही महिमा माननी चाहिये।

भाई ललवाणी का भी अहिंसा प्रचार में वहुत वड़ा रस है। ऐसे मौके पर ये भी दौड़धूप करने को तैयार रहते हैं। संतों द्वारा प्रकट की गई अहिंसक भावना को, सफल और सवल वनाने में ये कभी पीछे नहीं रहते। इस सवके अन्तर्गत तप का ही माहात्म्य छिपा है। पहले की बहिनों ने भी तपस्या की थी, मगर वे घर में रहकर। परन्तु इन वहिनों ने मन को बटोर कर रखा और धर्म स्थान में ही पूरे व्रत तक जमी रहीं। यदि ये तपस्या के समय में घर पर रहतीं तो नित्य कपड़े वदलने में, मेंहदी लगाने और गाने-बजाने की बात वहुत वढ़ जाती। श्रद्धाभाव से इन्होंने प्रमाद घटाकर धर्म ध्यान में वृद्धि की। अतः मैं इस साहस के लिए प्रमोद व्यक्त करता हूं। दूसरी

बहनें भी इसका अनुसरण करें और तप के दिनों में अधिक समय संवर करनी में बिताने का लक्ष्य रक्खें तो बड़ा लाभ होगा।

तप करा देना सरल है किन्तु करना वस्तुतः कठिन है। इन बहिनों के परिवारवाले भाई उत्तमचन्द जी मुणोत और रूपचन्द जी कोठारी, जिन्होंने पहले के अठाई तप में वरघोड़े निकाले, जीमन किये, इस बार हमारे कहने से, इसमें आरम्भ घटाना स्वीकार कर लिया और बैण्ड-बाजा सहित आडम्बर के सारे कार्य बन्द कर दिये। यह अनुकरणीय रूप है। इस तरह से तप के नाम पर होनेवाला आपका यह आरम्भ परिग्रह घटेगा। समाज में सात्विक प्रभावना का नया रूप सामने आयेगा। आडम्वर के नाम पर खर्च होनेवाला पैसा, समाज हित में लगकर, समाज के आवश्यक क्षेत्रों को पुष्ट कर तप की स्थायी स्मृति खड़ी कर सकेगा।

परिग्रह छोड़ अपरिग्रह को अपनायें

आज हर तरफ से आपके ऊपर परिग्रह हावी हो रहा है। आपकी अधिकांश क्रियाओं में परिग्रह की प्रधानता दिखाई देती है। जीवन का प्रत्येक कोना परिग्रह से व्यक्त है। भ० महावीर ने अपरिग्रहवाद को हम सबके सामने रखते हुए कहा—जैनो ! समय के साथ अपनी साधना में तेजस्विता लाओ, ऊर्जस्विता बढ़ाओ। परिग्रह का दामन छोड़ दो और आत्मा को निर्मल एवं उज्ज्वल बनानेवाले अपरिग्रह का सात्विक प्रभाव बढ़ाओ। ऐसा करके जमाने की ठोकरों से बचोगे, बेइज्जतियों से अपने को सुरक्षित रख सकोगे। यदि प्रदर्शन भी करना चाहो तो अपरिग्रह का ही प्रदर्शन करो, परिग्रह का प्रदर्शन भी मत करो। त्याग का, दान का, बन्धुत्व और भाई-चारे का प्रदर्शन हितकर और अनुकरणीय होगा, इससे जन-मन को प्रभावित कर सकोगे।

यदि तप के इस प्रसंग पर प्रदर्शन करना आवश्यक प्रतीत हो, तो इन तपस्विनियों के संग आप सब भी अपने-अपने दुर्व्यसनों का, दुर्भावों और दुर्विचारों का खुले मन से त्याग करो, आडम्बर और

दिखावे का त्याग करो, भाई-भाई से लड़ने-झगड़ने और कलह से दूर रहने का त्याग करो। क्या यह धर्म की प्रभावना नहीं है ? थोड़ी संख्या में भी लोग ऐसे अवसर पर कुशील त्यागने का व्रत लें तो क्या यह धर्म की प्रभावना नहीं होगी ? आचरण को निर्मल बनानेवाली सारी क्रिया की गणना, धर्म प्रभावना के अन्तर्गत मानी जाती है, यह ध्यान में रहे। मगर अभी लोगों ने ऐसी प्रभावना करनी नहीं सीखी है।

दोनों तपस्विनियों के परिवारवाले भी आये हैं और कई आने-वाले भी हैं। साथ ही यहाँ उपस्थित आप सब भी साथ देनेवाले हैं। परन्तु मैं नहीं समझता कि इनमें से कितने त्याग करने के लिए खड़े होनेवाले हैं। यहाँ पचासों बीड़ी पीनेवाले भी होंगे, पान जर्दा खाने-वाले भी होंगे किन्तु अपने मन से कोई कुछ छोड़ने की तैयारी करे तो तप का सहयोग सही समझा जा सकता है। बड़ी-बड़ी अवस्थावाले भी शीलव्रत का खंध करने से घबराते हैं, औरों की तो बात ही क्या ? हाँ, विवशता से कुछ करना पड़े तो बात और है। यों तो विवशता से भी किया गया अच्छा काम लाभप्रद ही होता है किन्तु स्वेच्छापूर्वक किये गये कार्य का आनन्द इसमें नहीं होता। ज्ञानपूर्वक स्वेच्छा से यदि इस रूप में त्याग, नियम करेंगे तो आपका व्यक्तित्व भी चमकेगा, साथ ही शासन भी चमक उठेगा। ऐसे ज्ञान, दर्शन चरित्र की, तप की प्रभावना के आप कुछ व्रत नियम धारण करेंगे, तो जीवन में बड़ी शक्ति आयेगी।

तप में बड़ी शक्ति है; यह इन्द्र के आसन को भी हिला देता है। इन बहिनों की तरह आप भी तन, मन से तेजस्विता के साथ, बिना बाहरी प्रदर्शन के तप साधना का प्रदर्शन कीजिए और अपरि-ग्रही भाव से, मन के तेज को जगाकर साध्य की ओर दृढ़ता से कदम उठाइए तो इस लोक व परलोक में शान्ति और कल्याण होगा।

••

साधना से सिद्धि

सुबाहुकुमार की साधना

बन्धुओ ! जीवन में साधना का प्रसंग कैसे जागृत होता और उसकी साधना कदम-कदम आगे बढ़ती हुई सिद्धि को किस प्रकार प्राप्त कर पाती है, इसकी एक छोटी-सी झांकी सुबाहुकुमार के चरित्र के द्वारा आप सबको सुनाई जा रही है ।

सुबाहुकुमार अपनी राजकीय भोग साधना से विमुख हो अब योग साधना में लगा है । वह कर्म से धर्म में और राग से विराग में तत्परतापूर्वक बढ़ रहा है, और भौतिकता से आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आकर अपने साधक जीवन में अपेक्षित जोर लगा रहा है । वह केवल साधना में जुड़कर ही नहीं रहा, बल्कि अपनी साधना में आराधना का भी लक्ष्य रखकर चलता है । क्योंकि बहुत बार साधना में लगकर भी व्यक्ति, विषय कषायवश साधना को निर्दोष नहीं रख पाता, विराधना कर लेता है, उलझनों में उलझकर पथभ्रष्ट हो जाता है । तलवार की धार पर चलनेवाला तो आसानी से पार चला जाता है, परन्तु साधना पथ पर चलकर, पूरी तरह उस पथ को पार कर जावे, सफल हो जावे, यह जन साधारण के वश की बात नहीं है ।

अध्यात्मयोगी आनन्दघन ने चौदहवें भगवान् की स्तुति करते हुए ठीक ही कहा है कि—"धार तरवारनी सोहली, दोहली, चवदवां जिनतणीं चरणसेवा" उन्होंने कहा कि वीतराग के चरणों की सेवा सचमुच में तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन है । इस प्रसंग में चौदहवें जिनकी चरण सेवा के उल्लेख से यह नहीं समझें कि महावीर और अनन्तनाथ में भेद है । जिन शासन में वीतराग भाव की पूजा है और उस दृष्टि से आदिनाथ, अनन्तनाथ या महावीर में

कोई भेद नहीं है। चौबीसों तीर्थंकर समान मानवाले हैं। जैन धर्म व्यक्ति पूजक, नाम पूजक या वेष पूजक नहीं, पर वह गुण पूजक है। जो गुण के बदले नाम और वेष का पूजक हो तो समझना चाहिये कि उसकी धार्मिक दृष्टि सही नहीं है। अनुभवी संतों ने कहा है—एकमांहि अनेकराजे, अनेक मांहिएककं याने प्रभो? आप एक में अनेक और अनेक में एक हैं। आप में शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, महावीर आदि का कोई भेद नहीं है। शान्तिनाथ को नमन किया तो महावीर को हो गया और महावीर का किया तो शान्तिनाथ को।

आप भूलकर भी इस भ्रान्ति में नहीं पड़ेंगे कि आनन्दघन ने चौदहवें जिनकी बात कही और आप शान्तिनाथ की बात कैसे कह रहे हैं? तो यहाँ एक अनेक के संख्या की बात नहीं और न नाम पूजा की ही बात है। हमने पहले ही कहा कि हम गुणों के पुजारी हैं। जो वीतरागता, अनन्तनाथ में है, वही महावीर में भी है। वीतरागता का गुण दोनों में है।

हाँ! तो कहा जा रहा था कि भगवान् महावीर के साधना-मार्ग में बढ़नेवाला साधक तलवार की धार पर चल रहा है। तलवार की धार पर चलना आसान है। बाजीगर तलवार की धार पर चलने का खेल दिखाते रहते हैं। ऐसे साधना के पथ पर कदम रखना तो आसान है, परन्तु कदम रखकर पार पहुँचना मुश्किल है। मार्ग पकड़ने मात्र से तारीफ़ नहीं है, तारीफ़ पकड़े मार्ग को पार करने में है। राजकुमार सुबाहु ने श्रावक और साधु का मार्ग पकड़कर ही संतोष नहीं किया। परन्तु जो मार्ग पकड़ा उसको साहस के साथ पार भी किया।

तन्मयता नहीं तो सब व्यर्थ

अरे! साधना का मार्ग तो आप सब भी पकड़े हुए हैं, परन्तु आँखें खोलकर शान्तभाव से देखिये और जिसको पकड़ा है, उसे मर्दानि ढंग से पार कीजिये। रोते-झींकते चलने में कोई मजादारी

नहीं है। फूलों जैसे हँस-हँसकर वातावरण को सुरभित बनाइये एवं जीवन को सफल कीजिये। काम तो एक नौकर को भी करना पड़ता है, परन्तु नौकर रोते-धोते सेवा करता एवं भार उठाता तथा आवश्यक दूसरा काम भी करता है। परन्तु जो कुछ भी करता है, रीझते-खीजते करता है, मन से नहीं, रस और तन्मयता से नहीं। वह प्रत्येक काम को परेशानी का कारण मानता है।

दूसरी ओर परिवार में एक माँ भी काम करती है। माँ और नौकर के काम में कितना अंतर है? प्रायः जमीन और आसमान से बढ़कर। मां घर के आवश्यक काम करते हुए बच्चे की टट्टी-पेशाब भी साफ करती, कपड़े बदलाती एवं उन्हें साफ करती है। कार्य में उलझ कर कभी दिन भर भूखी भी रह जाती, परन्तु इससे वह दुःखी नहीं होती बल्कि आनन्दित होती है, प्रसन्न होती है।

कदाचित् किसी माता को व्यंग्य में भी कह दें कि माँ बनने में बड़ी परेशानी है, उलझन और दुःख है, अतः सौगन्ध कर जा, नियम ले ले कि आगे ऐसा नहीं करूंगी। परन्तु वह हर्गिज इसे स्वीकार नहीं करेगी। हर स्त्री माता बनने को तरसती, ललचाती और आकुल बनी रहती है। माँ बनने में थोड़ी सी देर हो जाने पर ही मनौतियाँ मनाने लग जाती हैं। वे अच्छी तरह जानती हैं कि मां बनने में टट्टी-पेशाब धोना पड़ेगा, शिशु की देखभाल में सुखचैन से हाथ धोना पड़ेगा, संवर, सामायिक नहीं होगी। फिर भी वह कहती है कि जो होगा—देखा जायेगा, किन्तु एकबार शिशु का मुंह तो देख लूं, मां का पद पा जाऊं फिर कोई चिन्ता नहीं।

मां बनने में क्या मजा है, क्या हर्ष और आनन्द है, यह आप को मालूम नहीं होगा। फिर भी अपने बच्चे के प्रति आपके मन में भी कम वात्सल्य नहीं है। कभी बच्चे ने आपके कपड़ों पर टट्टी-पेशाब कर दी तो आपको कैसा लगा? रंज में भर कर बच्चे को थप्पड़ क्यों नहीं मारी? मतलब इतना ही है कि मां बाप को बच्चे की सेवा करते हुए, तकलीफ में भी खुशी होती है। वे उस सेवा को

मन से अपना समझ कर करते हैं। जब कि एक नौकर कर्तव्य को बेगार और भार समझता है। उसको अपने मालिक के काम में मज़ा नहीं होता। बेगार समझकर करने से उल्टे उसे दुःख होता है, परेशानी बढ़ती है। काम का वास्तविक आनन्द अभिरुचिपूर्वक करने में ही आता है।

अन्तःसाधना सिद्धि का मूल

आप भी यदि सिद्धि चाहते हैं तो साधना को आन्तरिक रससे कीजिये। सामायिक, स्वाध्याय आदि जो भी क्रिया करें उसे अंदरूनी भाव से, तन्मयता से मां की तरह करें, परन्तु नौकर की तरह नहीं। साधना बेगार के रूप में नौकर की भावना से नहीं परन्तु आत्मीयता से होगी तभी उसमें आनन्द है। सांसारिक साधना का फल द्रव्य, इज्ज़त और नामवरी मिला लेना भर हैं। आगे उससे कुछ लाभ नहीं होता। किन्तु आध्यात्मिक साधना यहां भी और आगे भी उभय लोक में सुख शान्ति दिलाने वाली है। अतः वीतराग प्रभु ने कहा—मानव ! इसके लिए तू दिल से तैयार हो, बाहर से नहीं। दिल से तैयार होकर चलने वाला अपने आप में सुबाहु कुमार की तरह जिधर भी कदम बढ़ाता है, पीछे मुड़कर नहीं देखता। ऐसा नहीं कि चल तो रहा है आगे और मुड़मुड़ कर पीछे देख रहा है। इस तरह का शंकित या दुर्बल मन से किया हुआ त्याग कारगर सिद्ध नहीं हो सकता।

धर्म साधना के दो रूप हैं, एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग रूप सबका अपना क्षयोपशम है जो अपने तक ही सीमित रहता है। किन्तु बहिरंगरूप वह है जो अपने से भी सम्बन्ध रखता है और समाज तथा परिवार से भी। साधना के इन दो रूपों में भ० महावीर ने कहा कि अन्तरंग मूल कारण है। अन्तरंग साधना से ही साधक सिद्धि को प्राप्त करता है। अन्तरंग साधना ही भवप्रपंच की जड़ काटती तथा मुक्ति के पद पर साधक को सुखासीन करती है।

सिद्धि के तीन अंग

सिद्धि के लिए तीन अंग आवश्यक हैं, साध्य, साधन और साधना। जब तक साधक को इन तीनों अंगों को बराबर साधने का

मौका नहीं मिलेगा तब तक हर्गिज सिद्धि नहीं मिलेगी। यदि ये तीन साध्य साधन और साधना अनुकुल हैं और साधक उससे अलग है तब भी सिद्धि नहीं मिलेगी। तो साधक को सिद्धि पाने के लिए तीनों बातें चाहियें। तीनों बराबर होने पर ही सिद्धि रूप फल मिलेगा।

मान लीजिए कि आपको चलना है, किन्तु कहां जाना है यह पता नहीं है। बिना लक्ष्य के चल रहे हैं। इस तरह आपका चलना थककर गिरने तक कहीं समाप्त नहीं होगा। क्योंकि जयपुर जोधपुर आदि गन्तव्य लक्ष्य निश्चित नहीं होने से गति का क्या परिणाम निकलेगा ? लक्ष्य निर्धारित नहीं किया और चलते रहे, साधन भी ले लिए, वे दुरूस्त भी हैं और पूरे भी किन्तु साध्य स्थिर नहीं हैं। किसी ने पूछा कहाँ जाना है ? यह तो पता नहीं है, जहां भी पहुँच जायें। ऐसी स्थिति में सोचना है कि ऐसा लक्ष्यहीन यात्री कब कहां पहुँचेगा।

ऐसे ही प्रभु ने कहा कि अध्यात्म-साधना करने वालों को पहले साध्य स्थिर करना पड़ेगा। अध्यात्मवादियों का साध्य-लक्ष्य निश्चित है। उन्हें कर्म बन्धन को काटना है, अपने शुद्ध स्वरूप को पाना है और वीतरागता की प्राप्ति करनी है।

धर्म साधना का लक्ष्य भौतिकता नहीं

व्यक्ति का लक्ष्य उच्च और महान् होना चाहिये। लक्ष्य के अनुरूप ही गति और प्रगति की जाती है। धर्म प्रेमी मुमुक्षु का लक्ष्य होना चाहिये वीतरागता की प्राप्ति। धर्म साधना का लक्ष्य, धन मिलाना, कीर्ति मिलानी और परिवारादि मिलाने जैसा निम्न स्तर का नहीं होना चाहिये। धर्म का लक्ष्य यथेष्ट बाल-बच्चे पाना और सांसारिक सुख भोगना भी नहीं है। इसका लक्ष्य तो विकारों का मूलोच्छेद कर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है। जन्म, जरा एवं मरण के बन्धन को काटना है। हम जो आज तक चौरासी के चक्कर में भटक रहे हैं, यह भवभ्रमण मिटाना ही लक्ष्य है।

तो साध्य के अनुरूप ही साधना और साधन भी होने चाहियें। पूर्व में जाना हो और गति पश्चिम की ओर करें तो क्या होगा? हम उल्टी गति से कभी भी अभीष्ट स्थान नहीं पहुँच सकेंगे। ऐसे ही जब चलना है वीतरागता की ओर, और काम करें राग बढ़ाने के, रोष बढ़ाने के, लोभ बढ़ाने और चंचलता बढ़ाने के तो साध्य के विपरीत कार्य से सिद्धि नहीं मिल पायेगी ?

आहार-विहार की शुद्धि आवश्यक

प्रश्न उठता है कि वीतरागता की प्राप्ति कैसे हो? प्रभु-दर्शित लक्ष्य स्वीकृत होने पर भी क्रोध, लोभ, मान, माया एवं राग द्वेष का मूलोच्छेद कैसे करना? यह एक समस्या है। इस पर भ० महावीर ने कहा कि—आहार शुद्धि, विहार शुद्धि, विचार शुद्धि और आचार शुद्धि इन चार बातों का पूर्ण ध्यान रखना है। यदि वीतराग पथ पर कदम बढ़ाकर आगे बढ़ना है तो इन चारों पर लक्ष्य देना है। कहा भी है—"आहार मिच्छेमियमेसणिज्जं, सहाय मिच्छेनिउणट्ठ बुद्धि। निकेयमिच्छेज्ज विवेकजोगं, समाहिकामेसमणे तवस्सी।"

इनमें पहली बात है, आहार शुद्धि, मानव के मन पर आहार—खान-पान का बड़ा असर होता है। हजारों वर्ष पहले तीर्थंकरों ने यह प्रमाणित कर दिया कि मन पौद्‌गलिक है। आज विज्ञान खोज कर रहा है। अभी वैज्ञानिक भाषा की लहरों की जांच करने में लगे हैं। हम सब बोलते हैं और दूर-दूर से कोई वक्ता भाषण दे रहा है तो उसकी शब्द लहरी यंत्र के द्वारा पकड़ी जा सकती है। परन्तु मन के भावों को, विचारों की तरंगों को पकड़ने में, अभी वैज्ञानिक पूरे कामयाब नहीं हुए। मगर मनुष्य के विचारों की तरंगों को पकड़ने की बात भी वे मानते हैं।

गहराई से देखने पर आपको ज्ञात होगा कि आपके विचारों का दूसरों पर असर होता है। आप कुछ भी नहीं बोलिये केवल कुर्सी

पर बैठकर किसी के प्रति बुरेभाव से देखते रहिये। फिर दूसरे दिन देखिये कि उसके मन पर कुछ असर हुआ या नहीं।

परिग्रह को ढीला करना आवश्यक

आवश्यकता है आज धर्म साधना का प्रयोग जीवन पर करने की। यह तभी हो सकता है जब परिग्रह की पकड़ ढीली की जाय। कारण एक साथ धन और धर्म को पकड़कर कोई नहीं चल सकता। यदि धन को पकड़ोगे तो धर्म ढीला पड़ जायेगा। और धर्म को पकड़ोगे तो धन का रस कम हो जायेगा। आप कई प्राचीन उदाहरण सुनते हैं—धर्मियों के हाथों धन ढीला हो गया। क्योंकि वे धर्म में इतने तल्लीन थे कि विनश्वर धन को पकड़ नहीं सके। तो उनका धन कम पड़ गया, घट गया। इसके लिए आपके सामने राजा हरिश्चन्द्र आदि कई उदाहरण हैं।

धन को पकड़ा तो धर्म ढीला हो गया। इसके लिए लम्बे जाने की जरूरत नहीं है। अपने जीवन को ही देखिये। धर्म को पकड़नेवाला धन को मजबूत ममता से नहीं रखता है। सुबाहु की साधना एक ऐसी तेजस्वी साधना रही कि उसने भरपूर संपदा के साथ धर्म को पकड़ा था।

साधना में आहार का महत्व

कहा जा चुका है कि भगवान् महावीर ने वीतरागता के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आहारादि चतुष्टय को आवश्यक बतलाया है। उनमें आहार को क्यों जरूरी माना जाय, इस सन्दर्भ में प्रभु ने कहा—आहार विचारों का निर्माण करता है। विचारों से लेश्या का गहरा सम्बन्ध है, अतः लेश्या पर भी एक दृष्टि डालनी आवश्यक है। जैन शास्त्रों में लेश्या शब्द एक चिन्तन के लायक है। लेश्या द्वारा मन का निर्माण होता है और आहार से लेश्या का निर्माण होता है। लेश्या में अच्छा या बुरा रूप लाने के लिए आहार भी एक कारण है। यदि आहार-खाने के पदार्थ तमोगुणी हैं, मादक हैं व उत्तेजक हैं

तो उनके द्वारा आपकी लेश्या के परिणामों में भी अशुभता आयेगी। लेश्या अशुभ हुई तो मन भी अशुभ होगा।

लेश्या और मन के भेद

मन क्या है—विचार। लेश्या के दो भेद हैं और मन के भी दो भेद हैं—द्रव्यमन और भावमन। आज के वैज्ञानिकों ने भी मन के दो भेद किये हैं—अन्तर्मन और बाह्यमन। द्रव्यमन सक्रिय होकर चिन्तन मनन करता है, योजना बनाता है। द्रव्यमन रूपी और भावमन अरूपी है। इसी तरह द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या है।

लेश्या का एक अर्थ होता है, शरीर को कांति-प्रभा-वर्ण। नित्य जैसे पदार्थ खाये जायेंगे, पिये जायेंगे, उसके अनुसार उसकी कांति होगी, वह द्रव्य लेश्या कहाती है। भाव लेश्या परिणाम रूप है। अशुभ द्रव्य अशुभ विचारों के निर्माण में सहायक होता है और शुभ द्रव्य शुभ विचारों के निर्माण में सहायक है। देखिये ! एक पत्ती ब्राह्मी की है और एक पत्ती भंग की। दोनों ही देखने में एक ही रंग-रूप की हैं। दोनों में हरापन है। परन्तु रंग-रूप में समता होते हुए भी दोनों के गुण में महान् अन्तर है। यदि किसी ने भंग की लुगदी ले ली, उसको खा गया और दूसरे ने ब्राह्मी की लुगदी ली तो क्या होगा ? दोनों के परमाणुओं में अन्तर है। एक ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का कारण बनता है तो दूसरा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम में निमित्त बनता है। भंग की लुगदी—उसके परमाणु, आपकी समझ शक्ति, चिन्तन शक्ति और सोचने की शक्ति को मंद कर देगी। सेवन के पश्चात् आपके विचारों में एक जड़ता जम जायेगी और यदि दस-बीस वर्षों तक भंग पीते रहे तो स्मरण शक्ति में, दिमागी शक्ति में, बड़ी कमजोरी आ जायेगी। आप भंग के बिना सरलता से अपना समय भी नहीं काट सकेंगे और पीने पर आपकी होश ही जाती रहेगी।

दूसरी ओर यदि बीस वर्षों तक कोई ब्राह्मी की पत्तियाँ पीता रहा तो मंद बुद्धिवाला व्यक्ति, एक श्लोक ठीक से याद नहीं करने-

वाला भी तीक्ष्ण और कुशाग्र बुद्धि बन जायेगा। ब्राह्मी के परमाणुओं के प्रभाव व निमित्त से, उसके विचारों में, बुद्धि में तेजस्विता आ जायेगी। तो प्रभु ने कहा कि आहार, विहार, आचार और विचार इन सबको ठीक बनाओगे तो साधना सरल होगी और तब सिद्धि भी आसान होगी।

आहार शुद्धि और समाज व्यवस्था

आहारादि चारों को ठीक रखने के लिए आज सामाजिक सुव्यवस्था की जरूरत है। पहले के लोगों का अपने मन पर नियन्त्रण रहता था। वह वन में और मांसाहारियों के बीच में भी अपने आहार, विहार व विचारों को शुद्ध बनाये रखता। कदाचित् देश से बाहर भी जाता तब भी सोचता कि मैं यहाँ आकर भी अपने आध्यात्मिक भावों पर आंच नहीं आने दूँगा। कोई हमें देखे या न देखे परन्तु भगवान् तो सर्वत्र देखते हैं।

परन्तु आज के मनुष्य का चिन्तन कुछ और ही है। वह सोचता है कि घर में माताजी हरी भी नहीं खाने देती। मगर अब तो बम्बई कलकत्ता में स्वतन्त्रता से घूम रहा हूँ। यहाँ तो माता-पिता भी नहीं हैं फिर क्या खाना क्या नहीं खाना? इसका विचार नहीं कर जी जी में आता है, खा लेता है। जमीकंद की तो बात ही क्या? अखाद्य की भी सीमा पार कर जाता है।

आप में से कितने ही जो अभी सामायिक के वेष में बैठे हैं, घर तक आहारादि की मर्यादा पालेंगे, परन्तु होटलों में जाने पर कुछ और ही विचार रखेंगे। कदाचित् आप अपना ख्याल रख भी लें परन्तु बाल-बच्चों की ओर ध्यान नहीं होगा। आपने कभी अपने प्रवासी पुत्र से पूछा भी है कि—बेटा! तुम देश-विदेश सभी जगह से घूम आये परन्तु तुम्हारे आहार-विहार में कोई फर्क तो नहीं आया? महात्मा गाँधी की माता ने उन्हें जैन मुनि रायचन्द स्वामी के पास ले जाकर उपदेश दिलाया और प्रतिज्ञा करवाई।

मगर आज की माँ तो सोचती है कि यहाँ की कमाई से पूरा नहीं पड़ता तो बेटा बम्बई, कलकत्ता में जाकर कमाई करे तो अच्छा रहेगा। मारवाड़ के गाँवों को छोड़कर मालवे में जाने वाले किसान कितने और देशान्तर जाने वाले मारवाड़ी कितने? आपको कौनसा गाँव और शहर ऐसा मिलेगा कि वहाँ के लोग कानपुर, बम्बई एवं मद्रास में नहीं घूम रहे हों! मैं पूछूँ कि क्या आपको यहां रोटी बराबर नहीं मिल रही? आपको शुद्ध रोटी से संतोष कहाँ? और सादे कपड़ों से शान्ति कहाँ? आप तो चाहते हैं कि मेरे घर में भी अच्छी गाड़ी हो जो तीस-पैंतीस हजार से कम की नहीं हो। और लोग मुझे भी एक बड़ा उद्योगपति समझें, मान सन्मान करें।

आज मारवाड़ में रोटी के लिए, आजीविका के लिए कोई कमी नहीं है। छोटे-छोटे गाँवों में भी नल, बिजली और यातायात की सुविधा हो गई है। वहाँ भी वे अपने छोटे-बड़े कारोबार चला सकते हैं। और हजारों कमा सकते हैं। मगर हमारे जैन भाई विदेश में दौड़े बिना नहीं रहेंगे। तो बाहर में आहारादि की शुद्धता बराबर कैसे रह पायेगी?

आज देश में ऊँची मानी जाने वाली जातियों, अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाल, महेश्वरी, ब्राह्मण वगैरह में तो व्यवस्था ऐसी ढ़ीली हो गयी है कि—बच्चे कहाँ रहते हैं? कहाँ जाते हैं? क्या खाते-पीते हैं, किनके पास बैठते हैं आदि आवश्यक जानकारी की बात भी कोई पूछने वाला नहीं है।

मैं सवाई माधोपुर क्षेत्र में था तो वहां के बलाई भाइयों में अहिंसा के प्रचार का काम चालू किया। उन लोगों से बात की तो उन लोगों ने कहा—बड़ी अच्छी बात है। उन्होंने चालीस गाँव की पंचायत इकट्ठी की और निर्णय किया कि हमको मद्य सेवन नहीं करना। एक हरिजन जैसी कौम—समाज व्यवस्था से सुधर सकती है, तब जैन समाज, महाजन समाज जो जन्म से अच्छे संस्कार वाला

है, उनको सुधारना या कुटेवों से बचाना क्या कठिन है ? आवश्यकता है समाज की सुव्यवस्था की !

पहले समाज व्यवस्था थी। मृत्यु भोज, शादी पर नाच, आतिशवाजी, रात्रि भोज आदि कुरीतियाँ पंचायत ने बन्द करदी। उस समय वाराती को मनुहार में सुपारी, पान इलायची आदि दिए जाते। पर आज कन्द, मूल और मादक पदार्थों का प्रचार बढ़ने लगा है। युवकों को चाहिये कि समाज को व्यसन मुक्त कर लोकापवाद और पथ भ्रष्ट होने से बचाये। जिससे जनता को यह कहने का अवसर नहीं आवे कि इनमें व्यवस्था नहीं। ये लोग आस्था-हीन और निरंकुश बन गए।

आज सच्चे समाज हितैषी और धर्म रक्षकों की आवश्यकता है, जो भावी पीढ़ी के बच्चों का ध्यान रखें और गलत मार्ग जाने वालों को मिलकर प्रेम से समझावे। कुसंग से बचाकर सत्संग और सत्साहित्य की ओर लगावें। कदाचित् कोई प्रेम और भय से नहीं सुधरे तो समाज के अन्य बच्चे उसकी संगत से नहीं बिगड़ें, ऐसी तो व्यवस्था करें।

नगरों में नागरिकों के आवश्यक सहयोग और जीवन स्तर उठाने के लिए क्लबों से आशा की जाती—पर उनमें अच्छे पढ़े-लिखे उच्च स्तर के नागरिक और अधिकारी के सम्मिलित होते हुए भी, नैतिक सुधार का कोई काम नहीं दिख रहा। खेलकूद और आमोद-प्रमोद में भी मादक द्रव्यों को प्रश्रय दिया जाने लगा और हार-जीत की बाजी भी होने लगी है। हाँ, कुछ सहायता कार्य समय-समय पर अवश्य प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी अवस्था में महाजन समाज और जैन समाज को यदि जिंदा रखना है तो समाज की व्यवस्था में कुछ सुधार करना होगा। यदि समाज की व्यवस्था को सुदृढ़ नहीं बनाया गया तो कुछ दिनों के बाद आप अपनी भावी पीढ़ी को धर्म क्रिया से विमुख पायेंगे। संभव है बहुत से युवक आहार-विहार में

बिगड़ जायँ और इससे उनके विचारों में दुर्बलता आ जाए। क्योंकि आहार से ही विचार बनते हैं। आहार शुद्धि के लिये समाज व्यवस्था जरूरी है।

ज्ञान और साधना

भ० महावीर ने कहा कि आहार-विहार की साधना को छोटी मत समझो। ज्ञान की ज्योति है तो, छोटी भी साधना जीवन को चमका देगी और ज्ञान की ज्योति नहीं है तो जीवन आगे नहीं बढ़ेगा। ज्ञान की ज्योति दो तरह से चमकती है। सामाजिक व्यवस्था से या सत्गुरु की कृपा से। ज्ञान बिना सत्संग के नहीं होता। सत्संग और स्वाध्याय दोनों ज्ञान वृद्धि में सहायक हैं। पहले-पहल स्वाध्याय भी सद्गुरु की सेवा में ही ठीक रहता है। क्योंकि गुरु के चरणों में और उनके निरीक्षण में किया गया स्वाध्याय सम्यक्, परिणाम वाला होता है। गुरु चरणों में किये गये स्वाध्याय को दिशा निर्देश मिलता है। जिससे मानव अपने जीवन को बना पाता है। साधक को आरंभ में ही यदि मार्ग दर्शन नहीं मिला तो वे जीवन नहीं बना सकेंगे और जीवन नहीं बना तो सारी साधना फीकी रहेगी।

भगवान् महावीर ने कहा—मैंने बहुत वर्षों तक साधना की, तप किया। तीर्थंकर भव से पहले कई जन्म तक करनी करता रहा। परन्तु मेरी करनी जब तक ज्ञान से शून्य रही, तब तक मुझे भटकना पड़ा। मैंने मरीचि के भव में बहुत जप-तप, साधना की, पर अन्त में कुलमद कर आलोचना किये बिना ही चल बसा। कुल-वंश के घमण्ड से नीच गोत्र का बंध हुआ। आत्मा गिर गई, कई भवों में भ्रमण करना पड़ा। फिर ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर तापस दीक्षा से तप करते रहा मगर साधना ज्ञानपूर्वक नहीं थी। जैसा कि कहा है—

"ब्रह्म लोक से निकल, मध्य कई भव कर जाते हैं।
पंचम कौशिक द्विज भव से, फिर नर भव पाते हैं।"

शासन नायक.......

साधारण साधकों की तो बात ही क्या ? भ० महावीर कहते हैं कि मैंने अपने जीवन में प्रयोग करके जाना है

कि जो व्यक्ति ज्ञान शून्य होकर तप करता है उसके जन्म-मरण का वंधन नहीं कटता, भव प्रपंच नहीं छूटता। मरीचि ने पांचवें देव-लोक से आयु पूर्ण करके ब्राह्मण कुल में जन्म लिया। उसका नाम था अग्निमित्र। घर अच्छा, भक्ति का वातावरण अच्छा। अतः सत्संग पाकर के उसने परिव्राजक मत की दीक्षा ले ली। घर परिवार छोड़ा, सब कुछ छोड़ा, वर्षों तक भूखा रहा और साधना की। परन्तु उसमें ज्ञान नहीं आया। साधना का लक्ष्य क्या है? आत्मा परमात्मा और वंध मोक्ष क्या है? इसकी कोई सही जानकारी उसे नहीं मिल पायी। एक परम्परा के रूप से उसने व्रती का वाना धारण कर लिया। वर्षों तक साधना करके भी वह पहले देवलोक में गया। छठें भव में फिर स्वर्ग से निकला और ब्राह्मण कुल में जन्मा। वहाँ भी पूर्ववत् ही किया, मगर कोई नतीजा नहीं निकला।

गुण और वन्दन

स्मरण रहे कि ज्ञानपूर्वक थोड़ी देर भी किसी त्यागी, विरागी या अरिहंत, संत को नमस्कार कर ले तो उससे उसके कर्म बन्धन कट सकते हैं। तीनबार झुकना तो बड़ी बात है? यदि एकबार भी झुक कर वन्दनीय के ज्ञानादि गुणों का साकार रूप में चिन्तन किया जाय तो बड़े आनन्द का कारण हो सकता है।

आज आप आते हैं मुनियों के वन्दन करने को और— "करेमि वंदामि" अक्षरों का उच्चारण भी करते हैं। अक्षरों का दिमाग में चक्कर चलता रहता है, परन्तु कभी यह नहीं सोचते कि— "कल्लाणं देवयं चेइयं" क्या है? इन संतो में क्या गुण हैं? इस तरफ लक्ष्य नहीं दिया तो हम पिण्ड की पूजा कर रहे हैं, गुणों की नहीं। याद रक्खें आपको किसी के पिण्ड की पूजा नहीं करनी है, बल्कि गुणों की करनी है। आप मेरे पैरों से रगड़ खाओ या नहीं खाओ, परन्तु गुणों से रगड़ खाओगे तो इसमें आपका कल्याण है।

साधु आपके घर से ही निकले हैं। उनके शरीर में कोई अलग विशेषता नहीं है। आप में से कई संतों की अपेक्षा शरीर से ज्यादा

लम्बे चौडे और तगड़े निकल सकते हैं। फिर संतों को वन्दना क्यों करते ? पिण्ड को पूजा नहीं है—क्योंकि पिण्ड की पूजा करनेवाला सम्यक्-दृष्टि नहीं होता। आपको साधुओं के गुणों का ध्यान करना चाहिये। देवमूर्ति के सामने प्रणाम करनेवाला जैसे सिर टेक कर प्रार्थना व गुणों का चिन्तन करता है, ऐसे त्यागी सन्तों के वन्दन में भी गुणों का चिन्तन होना चाहिये। अपने यहां वन्दना में जोर जोर से बोलने का रिवाज है। वन्दना करनेवाला चाहता है कि महाराज को मालूम हो जाय और मेरी वन्दना मंजूर करें। कभी कोई संत वन्दना नहीं झेली तो लोग नाराज होंगे। वे यह नही सोचते कि मुझे तो वन्दना का पुण्य हो ही गया। साधुजी ने वन्दना नहीं झेली तो मेरा क्या जाता रहा ? यह तो संतों के सहूलियत की बात है, जो एक व्यवहार है।

ग्राचार्यों ने कहा है—"संसार सागराओ, तारेई नरं वा नारिं वा।" इस श्लोक में बतलाया गया है कि मानव ! बड़ी साधना तो क्या ? एक बार भी यदि सच्चे मन से त्यागियों के चरणों में या वीतराग वर्द्धमान् को नमस्कार कर ले, वीतराग भाव का चिन्तन कर ले कि—भगवन् ! आप वीतराग हैं, आपने संसार की भोग-भावना पर विजय मिलाया है, मेरा ग्रापको शत-शत वन्दन है। इस तरह आप भाव वन्दन करते हैं तो आपके जीवन में गुणों का प्रकाश होगा, आत्म-ज्योति जगमगा उठेगी।

साधना और स्वाध्याय

मैं कह रहा था कि इस तरह धार्मिक साधना में तेजस्विता लाने के लिए, साधना की शिखा को प्रद्योतित करने के लिए वह राजकुमार तप पथ पर बढ़ चला। परन्तु आज देखते हैं तो ज्ञात होता है कि लोगों की साधना में चेतना नहीं है, रस और प्राण नहीं है। आपको भी उस राजकुमार की तरह अपनी साधना मे चेतना लानी होगी ग्रौर समाज व्यवस्था में सुधार लाना होगा।

स्वाध्याय व्यक्तिगत चेतना का प्रमुख साधन है। घर-घर, गांव-गांव और प्रान्त-प्रान्त में स्वाध्याय के प्रकाश का प्रचार-प्रसार

हो। धर्मस्थान केवल बैठके, पूंजनी और जाजम फैलाकर बैठने का ही साधन नहीं है। परन्तु यहाँ ज्ञान का घोष होना चाहिये, स्वाध्याय का घण्टा बजना चाहिये। स्वाध्याय के प्रदीप से मन का अन्धकार दूर होगा। समाज की टक्करबाजियां खत्म होंगी, कुरीतियाँ खत्म होंगी। इस तरह इन समस्त रोगों का एक इलाज है स्वाध्याय।

परन्तु आज तो आप सब पर का अध्याय कर रहे हैं—अमुक समाज ऐसा कर रहा है, अपने साथी ऐसा कर रहे हैं, वह ऐसा धंधा-व्यापार कर रहा है, उसने खानदान का नाम डुबो दिया, इस प्रकार की बातें सब पर के अध्याय हैं, यह स्वाध्याय नहीं है। जब तक स्वाध्याय नहीं होगा, तब तक कुछ नहीं होगा। स्वाध्याय में ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को आगे बढ़ाने की क्षमता है, स्वपर के कल्याण का बल है।

आज मैं अजमेरवासियों से, मेवाड़ एवं जयपुर, जोधपुर आदि-आदि स्थानों के बन्धु और माताओं से आशा रखता हूँ कि वे केवल मंगल लेकर ही इस स्थानक से रवाना नहीं होंगे, परन्तु अपने-अपने घरों में, समाज में, जन कल्याणकारी स्वाध्याय का पूरा प्रचार करने की भावना लेकर जायेंगे। हरेक बच्चा, बूढ़ा, जवान यह संकल्प करे कि स्वाध्याय हमारे समाज का धर्म है। एक तो होता है व्यक्ति धर्म और एक होता है समाज धर्म। सिक्ख समाज के पाँच निशान हैं। कोई भी सिक्ख का बच्चा बिना कड़ा, केश, कंघी, कटार और कच्छे के आपको दृष्टिगोचर नहीं होगा। इन्हीं से वह सरदार समझा जाता है। मैं जैनों से समझना चाहूं तो आपके भी कोई निशान हैं क्या? नहीं। न तो आपके वेष-भूषा में ही ऐक्य है कि जिससे ज्ञात हो सके कि आप जैन हैं।

आप बाहरी नकल जरूर कर लेंगे परन्तु सामायिक की नकल नहीं करेंगे। भ० महावीर ने कहा—एक चेडा जैसा राजा और पूणिया जैसा श्रावक मगर सामायिक मे दोनों समान। गरीब और अमीर

सब की एक ही वेष-भूषा थी—श्वेत चद्दर और धोती। परन्तु आज सामायिक में भी बहुरूपियापना आ गया है। आज का नौजवान सोचता है कि कौन कपड़े धोती बदले। कचहरी जाएंगे तो वहां के अनुरूप वेष बदल लेंगे। वकील हुए तो न्यायालय का प्रचलित वेष लगायेंगे। स्कूल के बच्चे वहां के वस्त्र पहनेंगे। डाक्टर हुए तो अस्पताल के नियमानुसार वस्त्र बदल लेंगे। नौजवान अपने उद्योग शाला में जाते हुए वेष बदलेंगे। परन्तु हमारे धर्म स्थान का आदर और प्रेम ऐसा है कि सामायिक में भी कोई वेष नहीं बदलेगा। पेंट और पायजामा पहिने हुए ही सामायिक करेगा।

आज सब में पश्चिम का वेष घर कर गया है। धोती पहनने का रिवाज जो आपके बाप-दादा से पुश्तैनी रूप में आ रहा है, उसे पहिनना भूल गए। और जो भारतीय संस्कृति की वेषभूषा नहीं है, उसे अपना लिया। सोचिए! प्रतिलेखन करना किसका सरल होगा, सिले हुए वस्त्र का या बिना सिले हुए का? मगर आज हमें इस सरलता और आसानी पर नजर नहीं है। नजर पश्चिम की नकल नवीसी पर है। सामायिक में बिना सिला कपड़ा होना चाहिये—सामायिक में साधुवृत्ति का अभ्यास है।

सामायिक साधना में एक वेष होगा तो बहुत अंशों में सामाजिक भेद दूर हो सकेगा। हमारा सामायिक का समतावाद इतना जबर्दस्त है कि अर्थ का समतावाद, साम्यवाद संभव समाज में शीघ्र नहीं आयेगा, और आये भी तो पूर्णरूप में ऐक्य संभव नहीं हो। परन्तु सामायिक-समतावाद में एक मंजिल वाले और दस मंजिल वाले भी एक साथ हो जाएंगे, मिल लेंगे। वेतन के तीन, चार और पाँच अंकों के अन्तर वाले भी एक स्थान पर मिल जायेंगे। अमीरी और गरीबी दोनों एक जगह आकर जुड़ जायेगी और कुछ देर के लिए धारण की गई समानता आ जायेगी। साधना के बल से सदा-सदा के लिये भेद-भाव भुला देगी। इस प्रकार सामायिक में समतावाद आया तो एक लखपती तथा गरीब में कोई अन्तर नहीं दिखाई देगा। ऐसे समता

की सीढ़ी पर धीरे-धीरे चलते हुए कभी अनन्त सुख का प्रासाद भी प्राप्त किया जा सकेगा।

आप जैन हैं, अतः आपका यह दायित्व है कि आप स्वयं सुधरें और दूसरों को भी सुधारें। इसके लिए स्वाध्याय की मशाल हाथ में लें और जैन शासन को चमकायें। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की ज्योति जगाई गई तो आपका लोक एवं परलोक सुखदायी बन जाएगा। यदि आप मेरे कहे हुए विचार पर चिन्तन मनन करेंगे तो समाज का कल्याण होने में देर नहीं लगेगी।

३

त्याग का महत्व

सुबाहु राग से त्याग की ओर

बन्धुओ ! अभी विपाक सूत्र का वाचन चल रहा है। उसमें बताया गया है कि चरित्रनायक सुबाहुकुमार अपनी अपार ऋद्धि सम्पदा को त्याग कर साधना के क्षेत्र में गति कर रहे हैं। सुखोपभोग की सारी सामग्री से मुँह मोड़ कर संयम की साधना में, व्रत की आराधना में, अपने को अर्पित कर गति कर रहे हैं। आप सोचेंगे कि दुनिया का हर व्यक्ति सुख सामग्री को पाना चाहता है। कोई भी उसे छोड़ना नहीं चाहता। फिर यह तो उल्टी गंगा बहने जैसी बात है। आपमें से अधिकांश भाई बहिन भक्ति करते, तप करते, जप करते और सत्संग करते अभिलाषा रखते हैं कि हमको तन का सुख मिले, धन का सुख मिले, गुरु की कृपा से सन्तति का सुख मिले, अच्छी प्रतिष्ठा और पद मिले। आप सब इनको मिलाना चाहते हैं। संभव स्वप्न में भी इन्हें छोड़ने की इच्छा नहीं करेंगे।

खूब गहराई से सोचें कि यदि आपके परिवार में से एक पुत्र यदि सदा सदा के लिए आपसे अलग हो जाये तो क्या अच्छा लगेगा ? आप दस बीस वर्षों तक बड़े सम्मान के साथ ऊँचे पद पर रह गए, बड़े उद्योगपति बन गए, अब आपके स्थान में यदि किसी दूसरे को उसका अधिकारी बना दे, तो कैसा लगेगा ? आप लखपति हैं, और कोई उनमें से दस हजार ले ले तो क्या पसन्द आयेगा ? आप किसी ट्रस्ट में हैं, कारखाने-मिल के डायरेक्टर हैं, विधान सभा या धारा सभा के सदस्य हैं, इनसे आपको हटाकर, दूसरे को वह पद दे दिया जाये तो क्या आप पसन्द करोगे ?

सचाई तो यह है कि कौन भाई बहिन ऐसा होगा, जो प्राप्त पद, मान-प्रतिष्ठा, धन, कुटुम्ब, और कुर्सी को छोड़कर दूर होना

चाहे ? प्राय: बहुत थोड़े लोग होंगे, जो इस बात को पसन्द करेंगे। वास्तविकता तो यह है कि आप उन सभी वस्तुओं को लेना चाहेंगे और चाहेंगे कि मन के अनुकूल सफलता मिले। आप तो हम जैसे त्यागी संतों से भी सांसारिक नफा उठाने की इच्छा रखेंगे। साधु संतों की शुभ दृष्टि से बम्बई कलकत्ता आदि स्थानों में आपके द्वारा खोले गए कारखानों में, व्यापारिक प्रतिष्ठानों में, अभीष्ट सफलता मिलने से आपको अत्यधिक खुशी होगी और आप संतों के गुण गाने लगेंगे।

इस प्रकार दुनिया का साधारण प्राणी जहां इन भौतिक वस्तुओं के पाने में, हर्ष एवं आनन्द मनाता है, वहां धर्मशास्त्र और ज्ञानी इन नश्वर पदार्थों के छोड़ने में हर्ष मनाने का सदेश देते हैं, शिक्षण देते हैं कि ज्ञान को प्राप्त करने में खुशी मनानी चाहिये। शास्त्र कहता है मानव ! वस्तुतः अन्तर में ज्ञान ज्योति के उतरने से, भीतर और बाहर उजागर होगा एवं अपने और पराये का सही ज्ञान होगा। तब बाह्य वस्तुओं के त्याग में दुःख करना भूल जाओगे। मगर ज्ञान को यह ज्योति कठिनाई से भीतर उतरती है। जब आप अपने पुत्रों में से किसी को त्याग मार्ग में देकर, प्रभु के चरणों में चढ़ाकर खुशी अनुभव करोगे, तिजोरी मे जमा लाखों मे से, हजार ही सही त्याग मार्ग में—संवर निर्जरा के कार्यों में लगाने का अवसर पा हर्ष मनाओगे तब जानो कि ज्ञान को ज्योति जगी।

प्राय: लोग खान-पान में ही प्रसन्नता का हर्ष एवं आनन्द का अनुभव करते हैं। परन्तु ज्ञान के जगने पर खाने में खुशी नहीं, उसके त्याग एवं सदुपयोग में खुशी होती है। ऐसे ही मनपसन्द भोगों को भोगने में खुशी नहीं होगी, उन्हें छोड़ने में मजा आयेगा। अन्तर की चेतना कहेगी कि ये भोग कर्म बन्धन के कारण हैं। जितनी इनमे प्रीति करूँगा, उतना ही अधिक उलझूँगा। ज्ञानियों ने ठीक कहा है—

"भोगा न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः"

याने हमने भोगों का भोग नहीं किया, किन्तु भोगों ने ही हमारा भोग कर हमें निस्सार बना दिया। इस प्रकार ज्ञानी आत्मा

भोग्य पदार्थों के पाने में नहीं, उसके त्याग में खुशी मानता है। किन्तु आपको यह त्याग की बात सहसा अभी गले नहीं उतरेगी।

इसी प्रसंग में आपसे पूछ लूँ कि कभी आपके शरीर पर सार-संभाल नहीं करने से, पसीना के संग धूल जम जाये तो आपको खुशी होगी क्या ? नहीं। अरे ! माल बढ़ने पर यह ना कैसा ? आप कहेंगे कि यह तो कचरा है--मैल है। यहाँ तीन दिन बैठे रहे और पौषध के कारण स्नान भी नहीं कर पाये तो शरीर भारी मालूम होगा। पर्यूषण के बाद तो छूटते ही घर जाकर स्नान करेंगे। कदाचित् संतों के द्वारा जल्दी का कारण पूछने पर, आप कह देते हैं कि मैल खा रहा है, स्नान करने को घर जाना है। शरीर पर मैल खाने का आपको अनुभव है, किन्तु तिजोरी की जमा पूँजी, घर के भीतर की दौलत आत्मबल को खा रही है यह कभी अनुभव नहीं हुआ ? इसको अभी तक मैल नहीं समझा है। यही कारण है कि धन-संपदा और विषय कषाय को, बढ़े हुए मैल की तरह अलग करने का कभी विचार नहीं होता। यह ज्ञान न होने का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अपने शरीर पर सदा साथ रहनेवाला, पसीने में चिपके हुए मैल को हटाने की तो जल्दी है किन्तु घर में, तिजोरी में, अपने से दूर रखे हुए धन में जो मोह बढ़ा हुआ है, उसको हटाने की कोई चिन्ता नहीं है।

राजकुमार सुबाहु को, उसकी सारी राज्य सम्पदायें, शरीर पर जमे मैल की तरह, दूर करने की धुन लग गयी। उसने देखा कि राजा महाराजा का पद मिला। पाँच सौ रानियाँ मिलीं तो इससे मेरी आत्मा पर कर्म का मैल बढ़ गया। मैं पहले की अपेक्षा अधिक भारी हो गया हूँ। इन पाँच-पाँच सौ रानियों और पांचों इन्द्रियों के भोगों को जी खोलकर भोगा। जीवन में ये जवानी के दिन, जिनमें विद्युत-सी शक्ति और अटूट उत्साह प्रवाहित है, किसी सत्कार्य में न लगाकर, वासनाओं की अतृप्त-तृप्ति में व्यर्थ गंवा दिये। ऐसा चिन्तन कर वह अपने सांसारिक राग को आज त्याग की ओर मोड़ने लगा।

त्याग में आनन्द

क्या आपने कभी पुराना सांप देखा है? नहीं तो किसी कालवेलिये की पिटारी में जाकर देखें। पुराने सांप के शरीर पर एक त्वचा का पर्त चढ़ जाता है, जिसे केंचुली कहते हैं। जब सांप के वदन पर केंचुली छा जाती है तब वह उसे उतारने को छट-पटाता है। कारण इससे उसका चलना-फिरना और देखना कठिन हो जाता है। वह केंचुली उतारते इधर-उधर रगड़ खाता है। जब केंचुली उतर जाती है तो सांप बड़ा खुश होता है। आपके शरीर पर भी कभी पुरानी चमड़ी हटकर, भीतर से दूसरी नयी चमड़ी आती है तो पुरानी के हटाने में खुशी होती है—आनन्द आता है। क्योंकि वह पुरानी बेकाम बन जाती है। जब तक आप उसको नहीं हटायेंगे, तब तक आपके शरीर पर एक तरह की खुजली चलती रहेगी।

आत्मा के साथ भी एक केंचुली लगी है, वह है धन-सम्पदा के ममत्व की। आत्मा से भिन्न होकर भी, यह उसके साथ एक रूप से रहती है। सर्प का जैसे केंचुली के कारण चलना-फिरना एवं देखना बन्द हो जाता है, वैसे आत्मा का भी, सही मार्ग में जानना-देखना व चलना अवरुद्ध हो जाता है। सर्प की तरह आत्मा भी कर्म केंचुली से परेशानी का अनुभव करता है। समय पाकर वह सत्संग में क्रिया की रगड़ से, ममता-वासना की चोली उतार फेंकता है। चोली उतारने पर वह हल्का एवं प्रसन्न हो जाता है। इसलिए भ० महावीर ने कहा मानव! भौतिक पदार्थों के पाने में आनन्द नहीं, वास्तविक आनन्द उसके त्यागने में है। तुमने जो समझ रखा है कि अच्छा तन पाया, कुटुम्ब पाया, अच्छी भोग सामग्री पायी, फिर इससे बढ़कर और आनन्द क्या है? तुम्हारा यह सोचना ठीक नहीं। वास्तव में इसमें आनन्द नहीं है।

आनन्द राग में नहीं

महावीर के पूर्व जन्म की एक बात जिसमें स्वयं उन्होंने अपने बारे में बताया कि राग में आनन्द नहीं है, त्याग में है। दसवें भव की यह बात है, जैसे—

"दसवां भव द्विज कुल में आये सुरतीजे जाते हैं।
द्वादश भारद्वाज विप्र, दिव चौथे आते हैं।
शासन नायक वीर जिनेश्वर की हम कथा सुनाते हैं।।

आगे भ० महावीर कहते हैं कि जब तक इन भौतिक पदार्थों से चिपके रहोगे, तब तक जन्म-मरण के चक्कर में भटकते रहोगे। यदि तन से, धन से, बाल-बच्चों से चिपके रहे, कोठी-बंगलों और बाग-बगीचों से चिपके रहे, तो मरण काल में, जिनमें मन बसा रहेगा, उन्हीं में योनि धारण करनी पड़ेगी। अगर हवेली में मन रक्खोगे तो उसी में सांप, बिच्छू, कुतिया अथवा चिड़िया बनकर पैदा होओगे। वहां से लाठी मार कर हटाने से भी जल्द नहीं हटोगे। जहां पहले सेठ बन कर थे, वहाँ मानसिक आसक्ति के कारण साँप बन गए और फन काढ़ बैठे हैं। न तो स्वयं उस धन का उपयोग कर सकता, न दूसरे को करने देता। केवल धन पर रखवाला बनकर बैठा रहता है। अगली पीढ़ी उस पुरानी हवेली में पूर्वजों द्वारा गाड़कर रखे हुए धन को निकालना चाहती है, मगर वहाँ सांप जैसे विषैले जीवों की अधिकता से, निकाल नहीं पाती।

कोई लखपति घराने का था। परन्तु दुर्दैव से व्यापार धन्धा नहीं चलने से चिन्तित था। उसने परम्परा से सुन रक्खा कि हवेली में धन गड़ा हुआ है। मन्त्रवादियों की सलाह ली और बोला कि हवेली के तहखाने को खोदना है। सलाह पाने पर उसने धन का पता लगाने के लिए सारे मकान खोद डाले। कमरे तोड़ दिए। मगर भाग्य से कुछ भी नहीं मिला। उसने मिलने पर कहा कि—महाराज! एक खोपड़ी मिली। किसी दूसरे ने बताया कि चन्दन की एक तख्ती मिली और मिट्टी का 'कुलड़िया' मिला। जिसमें कँकर-पत्थर भरे थे, सोना नहीं था। ऐसे कई नमूने आप सबने देखे सुने होंगे।

एक भाई ने कहा—महाराज! वहां माल तो बहुत था, परन्तु सांप दिख रहा था। किसी पंडित जी के साथ वहाँ गया तो सांप को देखकर पंडितजी डर के मारे भाग आए। उसने धन पाने के लिए

गाँठ के हजारों खर्च किये, मगर फूटी कौड़ी भी नहीं पायी। यह परिग्रह की मूर्च्छा का ही परिणाम है।

मूर्च्छावश आपको सांप तो नहीं बनना है? या घर की पहरेदार कुतिया तो नहीं बनना है? नहीं बनना है तो आप इन धन, माल, कोठी, बंगले से मन को हटाकर भगवान् के चरणों में आ जाओ। भगवान् के चरणों में प्रीति करने से, जड़ पदार्थों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। ऐसी स्थिति में निर्णय आपको ही करना है कि मुक्त बन कर अक्षय आनन्द प्राप्त करना है, या भवप्रपंच में उलझ कर बारम्बार निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करना है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—'जेहि-जाहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहिं न कुछ संदेहू। याने जिस व्यक्ति का जिस वस्तु में अत्यन्त स्नेह होता है, वह उसको अवश्य प्राप्त होती है। अत: ज्ञानीजन कीड़े-मकोड़े की मौत मरना पसंद नहीं करते। वे भोग त्यागकर भगवद् आज्ञा की आराधना में ही पूर्ण आनन्द मानते हैं। सुबाहुने इस मर्म को समझा और सुख वैभव सहित पांच सौ रानियों को क्षण पल में छोड़ दिया। अगर राजमहल में रहना और रानियों के संग वैषयिक भोग ही उसे पसन्द होते तो वह उनको कभी नहीं छोड़ पाता।

राग में वास्तविक आनन्द नहीं

आज के लोगों को राग में ही आनन्द आ रहा है। वे त्याग के महत्व को नहीं जानते। वे कदाचित् सोचते होंगे कि इतने परिश्रम और कष्टों को झेलकर जो धन-सम्पदा मिलायी, उसको योंही क्षण-पल में कैसे छोड़ दें? महाराज को तो कमाना नहीं पड़ता। उनको क्या मालूम कि इनके पीछे कितना कष्ट उठाना पड़ा है। इतना कष्ट उठाया तो कुछ इसका फायदा भी तो उठालें? योंही कैसे छोड़ दें?

परन्तु जरा गहराई से सोचेंगे तो मालूम पड़ेगा कि यह केवल भावी-सुख की कल्पना में वर्तमान को भुलाना है। क्या सुबाहुकुमार

कोई पागल था जो पांच सौ विलखती रानियों सहित, सारे राजवैभव को छोड़कर चला गया। आज लोग कुर्सियों के लिए कितनी लड़ाई करते हैं। चाहे पार्टी टूट जाये, संस्था विगड़ जाये परन्तु चाहते हैं कि मुझे मंत्रिपद मिले, चेयरमेन का पद मिले। सुबाहुकुमार को तो आज की तरह कुछ मिलाना नहीं था। उसे तो भाग्य से सब कुछ मिला ही हुआ था। लोग जैसा सोचते हैं, वात वैसी नहीं थी। उसको ज्ञान हो गया कि राग दुःख का मूल है। कहा भी है—"न विसु ही, देवता देवलोए, न वि सुही पुढ़वीपतिराया।" देवलोक में वड़ी ऋद्धिवाला देव, पट्खण्ड पृथ्वी का राजा चक्रवर्ती और बड़े-वड़े सेठ, सेनापति भी सुखी नहीं हैं। राग मुक्त वीतराग साधक ही एकान्त सुख की अनुभूति कर पाता है। अतः भोग के त्यागने में ही सच्चा आनन्द है।

राग घटाने के उपाय

भगवान् महावीर ने कहा कि यह भौतिक वस्तुओं का राग जन्म-मरण के दुःख को वढ़ाने वाला है। औरों की तो वात क्या कहूँ—मैं मरीचि के भव से स्वयं भटकता रहा। क्योंकि मैंने इन भौतिक पदार्थों से राग रक्खा। राग के साथ की गई तपस्या भी पुण्यवन्ध कर सकती है, परन्तु जन्म-मरण की वेड़ी नहीं काट सकती। प्रभु ने वताया कि हमने मरीचि के भव में तप किया, पर कुलाभिमान नहीं छोड़ा। फलस्वरूप काल प्राप्त कर पंचम कल्प में, देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकल कर ब्राह्मण कुल में जन्म पाया और वहाँ भी पूर्व जन्म के संस्कार से, त्याग मार्ग स्वीकार किया—परिव्राजक वना। वहां काल करके मनुष्य आयु का वंध किया, फिर ब्राह्मण कुल में जन्म पाया। वहाँ त्रिदण्डी रूप से तप कर प्रथम स्वर्ग में गया।

यों क्रमशः एक जन्म ब्राह्मण का, एक जन्म देव का करते हुए चौदहवें भव में पुनः ब्राह्मण कुल में जन्म लिया और स्थावर नाम पड़ा। जवानी में तापसों का सत्संग पाकर जाना कि ये भोग, रोग और शोक वढ़ाने वाले हैं। भोग के पीछे रोगों का डर है। जन्म-मरण का चक्कर तथा पदपद में दारुण दुःखों का टक्कर है। त्याग

और वैराग्य के पीछे ऐसा कुछ नहीं, वहाँ, सर्वथा शान्ति और निर्भयता है।

तप से लाभ

समाज में आठ, दस या महीनों की तपस्या चलती है। कोई-कोई इससे आगे दिनों तक भी बढ़ जाते हैं। तपस्वी भाई-बहिनों ने जब तक कुछ खाया नहीं, तब तक किसी तरह का खतरा नहीं होता। परन्तु पारणे में जरा असावधानी हुई तो बीमारी आ गयी। परिवार वालों के मनुहार से, जरासी ज्यादा खिचड़ी या पटोलिया ले लिया, टट्टी बन्द हो गयी या ज्यादा लग गई तो खतरे का अनुभव करना पड़ता है। ये सारे खतरे भोग के हैं। तप में जान लेवा कोई भी खतरा नहीं है। उसमें तो इतना ही है कि कभी गर्मी बढ़ गई तो पित्त हो जायेगा। पारणे में तो खतरा ही खतरा बना रहता है। दिनों के बाद परिवार वाले कुछ न कुछ बनाकर लाते और प्रेमपूर्वक खाने का आग्रह करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि अपथ्य होने से नुकसान होगा। परिणामतः तपस्या के बाद तपस्वियों की स्थिति बिगड़ जाती है।

तपस्या की तरह यदि पारणे में संयम से काम लिया जाय, और जननी जैसे धीरे-धीरे बच्चे को दूध बढ़ाती है, वैसे बढ़ाया जाय तो कुछ भी नहीं बिगड़ता। माता दूध पीने वाले बच्चे को कौर-कौर खिलाती तथा उसकी खुराक बढ़ाती जाती है। वैसे ही तपस्विनी की खुराक भी बढ़नी चाहिये तो कोई खतरा नहीं होता। उल्टे पहले का रोग जैसे कफ का, पित्त का, वायु या अपच का है तो वह तप के द्वारा मिट जायेगा, दूर हो जायेगा। आवश्यकता है संयमपूर्वक चलने की।

मैं कह रहा था कि आनन्द भौतिक वस्तुओं के राग में नहीं, त्याग में है। यह बात जब घट में उतर जायेगी, मन में समा जायेगी, तब क्या कभी आपस में किसी से झगड़ोगे? फिर क्या बाप-बेटे में कभी लड़ाई होगी? पड़ोसी-पड़ोसी में कभी कलह होंगे? यदि यह राग का विष दिल और दिमाग से उतर गया तो दुनियां भर के

सारे झगड़े, कलह, अशान्ति और द्वेष न जानें कहां विलीन हो जायेंगे ? जड़ मूल से कट जायेंगे ?

केंचुली की तरह माया त्यागें

सांप केंचुली को झाड़ी में उलझाकर या दीवार में टकराकर, जैसे-तैसे उतार फेंकता है। इससे उसको बेहद खुशी होती है। वह केंचुली उतरने के बाद उसकी ओर मुड़कर नहीं देखता। कहावत तो यहां तक है कि जिस घर में सांप बार-बार आते हों, वहां केंचुली या मोर पंखी रखी हो तो सांप नहीं आता। केंचुली की तरह परिग्रह त्याग कर सम्पत्ति त्याग कर आप राजी हो जाओगे ? सांप की तरह त्यागी हुई वस्तु की ओर मुड़कर नही देखोगे तो जाना जायेगा कि आपने राग त्याग के मर्म को समझा है।

मगर आप छोड़ते हैं—वस्तु का त्याग करते हैं और फिर मुड़-मुड़कर उसी की ओर देखते हैं। थोड़ा दान करके अधिक प्रशंसा पाने की, दानवीर कहाने की, अभिलाषा मन में संजोए रहते हैं। थोड़े दिनों तक उपवास करने के बाद, आपकी रसना विविध रसों और हरी सब्जियों के लिए मचलने लगती है। इस तरह त्याग की बात हमने सही रूप में समझी नहीं है। अतः राग में ही राग बना रहता है।

महावीर ने आगे कहा कि—मैं जब तक राग से राग करता रहा, तब तक जन्म-मरण की बेड़ी ढ़ीली नहीं हुई और जन्म-मरण की बेड़ी-ढ़ीली हुए बिना, आत्मा का कल्याण नहीं होता। तो सोलहवें भव में एक राजकुल में जन्म लिया। इस बीच जन्म-मरण का चक्कर चलता रहा। अभी तक तो ब्राह्मण कुलों में जन्मे थे, अब राजकुल में आए।

धन कुटुम्ब आदि शरीर के मैल हैं

हमने एक छोटा सा उदाहरण दिया था कि शरीर पर दो दिन का भी मैल जम जाता है तो उसको दूर करने में आपको नाराजी

नहीं होती है। और कदाचित् अधिक दिनों का हो तो उसे भी हटाने में, आपको अप्रसन्नता नहीं होती। आप अपने शरीर पर के मैल को, बढ़े हुए वालों को और नाखूनों को, जितनी जल्दी अलग करेंगे उसमें आपको खुशी होती है। आपका शरीर और मन हल्कापन का अनुभव करता है। जैसे ये मैल हैं वैसे धन, कुटुम्ब, परिवार का राग और मोह भी मैल है, भार है, तो ज्ञानी इनको हल्का करने में खुशी मानते हैं, आनन्द मानते हैं। यह ज्ञान की बात है। ज्ञान-पूर्वक भोग सुख का त्याग करने में खुशी होती है। जैसे साँप केंचुली को दूर कर, प्रसन्न होता है और यह चिन्ता नहीं करता कि मेरी चमड़ी उतर गई। वैसे धन परिवार से, अन्यायोपार्जित वित्त से, मोटा होना यह सूजन का, वादी का मोटापा है। जैसे किसी के शरीर में सूजन आने से, आँखें फूल गयीं, हाथ-पैर फूल गए। मधुमक्खी या टांटिया के काटने से अंग फूल गए तो उनको देखकर लोगों को शर्म और हँसी आती है। जैसे आपकी दृष्टि उस मुटापे को दूर करना पसंद करती है, रखने में आनन्द नहीं आता है। ऐसे ही हिंसा, झूठ, चोरी और अन्याय से उपार्जित धन के प्रति मन में दुःख होना चाहिये, पछतावा होना चाहिये और उसके त्याग में खुशी होनी चाहिये कि मेरा भार हल्का हो। यह ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

आप सब भी सत्संग में, भगवान् की वाणी सुनने के लिए आए हैं तो राग रंग से हटकर, सुबाहु की तरह मन में एवं क्रिया में, त्याग को भावना को जगाएं। यदि आप अपना परिमार्जन करेंगे और ज्ञान की ज्योति जगाएंगे तो आत्मा, इस लोक व परलोक में आनन्द पा सकेगा।

●●

४

समय कम और मंजिल दूर

मोह वन्धन का महा प्रभाव

वन्धुओ ! संसार में ऐसे वहुत से प्राणी हैं जो कि सोचकर और चाहकर भी, अपने आपको साधना में, गतिशील नहीं कर पाते, अभीष्ट सिद्धि में सफल नहीं हो पाते। इसका आपको हमको पूरा अनुभव है। जितनी वार हम यह सुनते हैं, पढ़ते और सोचते हैं कि विषयों से, कषायों से, वचकर अपने आपको ऊपर उठाना चाहिये। मगर चाहकर भी कषाय से ऊपर उठने में सफल नहीं होते हैं। इसका कारण क्या है ? कौनसा ऐसा वन्धन है, जो हमको आगे वढ़ने नहीं देता है।

महापुरुषों ने इस पर वड़ा चिन्तन किया है, मनन किया है। दुनियां के लोग अर्थ का चिन्तन करते हैं, वासना पूर्ति का चिन्तन करते हैं परन्तु अपना दुर्लभ मानव जीवन, उलझनों से कैसे छूटे, अपायों और दोषों से कैसे वचे ? इसका चिन्तन करने वाले विरले ही व्यक्ति होते हैं। जो थोड़े इस ओर वढ़ते हैं, वे भी वन्धन को काट नहीं पाते। क्योंकि इस दुर्भेद्य स्नेह वन्धन को काटने के लिए स्थूलभद्र और नमिराज की तरह सवल मनोवल चाहिये।

हाथी संसार का एक विशाल जानवर है। वह शरीर सम्पदा से प्राय- अन्य जीवों की अपेक्षा मोटा, तगड़ा और वलवान् होता है। हाथी को वश में रखने के लिए सीधी सादी डोरियों से, रस्सों से काम नहीं चलता। उसको लोहे की मजवूत सांकलों से वांधा जाता है। वन्धन भी आगे के पांव के अलग और पिछले पांव के अलग होते हैं। वह शेर की तरह कटघड़े में नहीं वांधा जाता। खुले में या वड़े घर में रहता है, मगर आगे पीछे दोनों ओर से वंधा रहता है, और वे वंध भी सांकलों के होते हैं। इन वन्धनों के कारण पर किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां,
विंध्योपकंठ विपिनं स्वकुलं च हित्वा।
कितान्यसिद्वीप ! गतोऽसि वशं करिण्याः,
स्नेहोहि कारणमनर्थ परम्परायाः"।

याने हेगजराज ! रेवा-नर्मदा का शीतल जल, सल्लकी के कोमल पत्ते, विंध्याचल का विशाल वन और अपने कुल को छोड़कर, तुम करिणी के वश में पड़कर क्या सोच रहे हो ? संसार की सारी अनर्थ परम्परा का कारण यह स्नेह ही तो है।

आपके न तो कोई आगे वन्धन है और न पीछे। सांकल की तो वात ही क्या ? एक मामूली डोरी भी आपके तन में लगी हुई नहीं है। परन्तु भीतर में रहा हुआ सूक्ष्म भी स्नेह वन्धन, आपके मन को लोहे की सांकल से भी अधिक मजवूती से जकड़ रक्खा है। धर्म स्थानक में वैठे भी आपको वह वेवश खींचता है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—"न राग वँधो परमत्थि वंधो।" राग या स्नेह वन्धन से बढ़कर कोई वन्धन नहीं है। स्नेह वंध सव वन्धनों से सूक्ष्म होकर भी मजवूत है। हाथी विना सांकल के नहीं रहता पर मानव मन इतना दुर्वल है कि वह विना सांकलों के ही ऐसा वंधा हुआ है कि जोर लगाकर भी मुक्त नहीं हो पाता।

हाथी को दोनों समय, सायं-प्रातः सवा मन के करीव रोट देते हुए भी, ऊपर से प्रेमपूर्वक पुचकारते हैं। टहलाने और नहलाने के लिए मानव जैसे तीव्र वुद्धि सेवक होते हैं। फिर भी वह भाग न जाय इसलिए मजवूत सांकल में वांधना पड़ता है। मगर आश्चर्य है कि आप बिना सांकलों के भी ऐसे वंधे हुए हो कि दो दिन के लिए भी कहीं सत्संग में चले जाते हो और कारण वश कभी तीसरा दिन वीतने लगे तो आपके मन का खिचाव होने लगता। माथे में तनाव आ जाता और उत्सुकता तथा आकुलता बढ़ने लग जाती है कि जल्द लौट चलूं ? पीछे चिन्ता करते होंगे। न मालूम भीतर में यह कौनसा वन्धन है, जो इस तरह आपको तड़फा रहा है, विकल वना रहा है। आप अधीर होकर कहने लग जाते हो कि महाराज ! वाल-वच्चे

घर वाले फिक्र कर रहे होंगे। मैं तो दो दिन का ही नाम कहकर आया था। शायद आप नौकरी करने वाले हो और छुट्टी लेकर निकले हों तो एक दिन की देर होने पर टेलीफोन और तार करके रह जाओगे। यह कोई असाधारण बन्धन नहीं है जो क्षण-क्षण पल-पल आपको अधीर बनावे और चिन्तित कर दे। परन्तु जो स्नेह का बन्धन है, वह सूक्ष्म होकर भी भीतर मन को बांधने वाला है। जिसमें कि संसार के लोक, बिना रस्सी डोरे और सांकल के बंधे हुए हैं। इसका बन्धन बाहर के पदार्थों के साथ तो नहीं दिखता, परन्तु यह अन्तर में ऐसे बंध का निर्माण करता है कि जिससे मानव निकलने की इच्छा रखकर भी नहीं निकल पाता।

दूसरी ओर हाथी साँकलों में मजबूती से बंधा होने पर भी कभी-कभी मस्ती की तरंग में, उन साँकलों को अदम्य आत्मबल से झटका देकर, तोड़कर चला जाता है। ऐसा दृश्य आपने देखा न भी हो किन्तु सुना होगा कि कभी चिड़ियाघर में, थियेटरों में या राजकीय गजशाला में कोई हाथी पागल हो गया और जंजीरें तुड़ाकर भाग निकला। एक बार अखबार में पढ़ने में आया कि कहीं से एक हाथी भाग निकला, तो उसको पकड़ने के लिए फौज के जवान गए और पकड़ने की चेष्टा की, मगर वह काबू में नहीं आया। आखिर उसे गोली मारनी पड़ी।

मोटा आदमी, मजबूत आदमी जब तक सयाना होता है, होश में होता है तो दुर्बल रहता है। परन्तु होश खोते ही उसके जोश बढ़ जाते हैं और वह पागल या प्रमत्त बन जाता है तथा साँकलों को भी तोड़ देता है। तो अपने को भी यदि साधना में आगे बढ़ना है तो इतना जोश लाना पड़ेगा, जोर का झटका देना पड़ेगा जिससे कि ये मोह की साँकलें छिन्न-भिन्न हो जायें, टूट जायें, बिखर जायें।

समय थोड़ा और मंजिल दूर

मैंने कभी एक छोटी सी मुहावरेदार बात सुनी जो जीवन को नसीहत या उद्बोधन देने वाली है। वह यह कि—"समय थोड़ा

और मंजिल दूर"। बात बहुत छोटी है परन्तु है बड़ी सारगभित और साधना में जीवन को आगे बढ़ाने वाली तथा चिन्तन और मनन को बदलने वाली। देखिए! आप और हम छोटी-मोटी क्रिया करते हैं और मन को संतोष हो जाता है। एक सामायिक करने वाला भाई समय पर नाम की सामायिक हो गई तो संतुष्ट हो गया—यह नहीं देखा कि दिन भर में पाप कितने कमाये और हिंसा कितनी कर डाली। क्या लाखों का नुकसान दो-चार टके की कमाई से हल्का हो जाएगा? यदि इसी प्रकार चींटी की चाल से चलता रहा तो हजार जन्म करके भी क्या मंजिल तक पहुँच पायेगा।

जिन्दगी के दिन साठ सत्तर साल बीत गए और चन्द दिन शेष रहे हैं। तीन पच्चीसी बीत गयी, अब एक पच्चीसी भी पूरी नहीं है। जो समय है उसमें भी खाना-पीना, विश्राम एवं नींद अलग हैं। जीवन चलाने के लिए, दो-चार चादर कुर्त्ता और धोती चाहिये। शरीर धारण करने को दोनों समय भोजन चाहिये। इन सब के लिए इतनी हाय-हाय क्यों? इस तरह कब तक चलाते रहोगे? दूर मंजिल के यात्री ऐसी धीमी गति से चलते कब पहुँचेंगे? यहां आए, जल्दी से वन्दना की, गुरु का नाम लिया और लौटकर चले गए। फिर दिन भर वही आरंभ परिग्रह और चौरासी का चक्कर।

अरे! तुम्हारी क्या बात है? त्याग मार्ग में लगे हुए बड़े-बड़े साधक भी थोड़े समय में यदि प्रमाद कर गए तो वे भी भटक जाते हैं। यहां यह सोचना है कि इस थोड़े से समय में मंजिल को कैसे पार पाना है? कहा भी है—

"दिन ढ़ल गया दूर है मंजिल, पथ दुस्तर करना है पार।
साथी छूट गए सब पीछे, कौन भरोसा पाऊं पार॥

समय की कमी और मंजिल की दूरी यदि आपके और हमारे दिल में खटक जाये तो बेड़ा पार होते देर न लगे।

इतिहास साक्षी है कि एक बार स्व० रीवांनरेश को एक शय्यापालक ने शिकार के लिए उठाया। उस समय उनके पूछने पर

सेवक ने कहा—"हुजूर ! अव दिन नहीं। इतना सुनते ही महाराज विरक्त हो राजपाट छोड़कर तीर्थ को चले गये। हाँ, तो ऐसी चुभनी चाहिये। संत कहते हैं—"कालःक्रीडति गच्छत्यायुः—तदपि न मुंचत्याशा वायुः" मानव ! यह काल दिन रात, सुवह शाम कहते तेरे संग खेल रहा है। न मालूम कव यह तेरी वाजी जीत ले। जरा सावधान हो। जिस प्रकार तू प्रमाद से चल रहा है, इस दशा में चलता हुआ तू हजार युग भी विता देगा, तव भी पता नहीं चलेगा कि मंजिल कितनी दूर है।

प्रमाद को हटाकर क्रिया कर

संसार में ऐसा कौनसा गति का जीव है जो क्रिया नहीं करता है। सव प्राणी क्रियाशील हैं। गीता भी कहती है—"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म कृत्।" याने कोई क्षणभर भी कर्म-रहित नहीं रहता। मन वाणी एवं काया के जो साधन प्राणी को मिले हैं, उनकी प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहती है। परन्तु इनकी प्रवृत्ति से कर्म काटने के वजाय, कर्म वांधे जा रहे हैं। प्रश्न होता है कि इससे वचा क्यों नहीं जाता ? तो इसका समाधान है कि अन्तर में कर्म काटने का या मंजिल पाने का सही दर्द नहीं जागा। जव तक प्रवल विरति-भाव जागृत नहीं हो, तव तक कुछ नहीं होगा। क्योंकि दर्द के विना क्रिया होकर भी प्रमाद और कषाय के कारण असावधानी से वंध काटने के वदले, वंध वढ़ानेवाली होगी। जिससे आराधना की वजाए विराधना कर जाओगे।

सम्यक्त्व पाया, सम्यक्त्वधारी रहे, परन्तु सम्यक्त्व के विराधक वन गये। कभी शंका का अतिचार, कभी कांक्षा और विचिकित्सा का अतिचार, प्रमाद से लग गया। जिसकी शुद्धि करनी चाहिये थी, पर प्रमादवश समय पर शुद्धि करने का होश-हवास ही नहीं जगा। प्रतिदिन वच्चे जैसी चाल चलते हैं। जैसे वच्चे को प्रतिदिन मां स्नान कराके, कपड़े वदलकर तैयार करती है। परन्तु वच्चा पुनः धूल में खेलता और मुट्ठी भर-भरकर अपने ऊपर डालता है, और साफ किये

कपड़े को गन्दा करता एवं जेब में कंकर भरता है। आप भी तो उस बच्चे की तरह राग और द्वेष की धूल दिन भर तन पर डालते रहते और पैसे, नोट, रुपये आदि से जेब भरते तथा चाह बनाये रखते हो कि इससे भी बढ़कर कोई मूल्यवान् वस्तु और मिले तो उसे भी इनके साथ धरलूँ।

बच्चे की तरह आपकी भी स्थिति है। जैसे बच्चे को स्नान कराकर और नया वस्त्र पहनाकर घर से निकाला, पर उसने अपनी नादानी से, गफलत से, अपने सारे शरीर को मैला कर लिया। आपकी भी दशा ठीक वैसी ही है। सन्तों ने ज्ञान-ध्यान से स्नान कराया और कहा कि सत्संग के वातावरण में रहकर विषय कषायों से बचे रहना। मगर होता क्या है? आप बच्चे की तरह फिर उन्हीं विषय कषायों में उलझ जाते हैं। गुरु ने सामायिक-संवर में बैठने का सम्बल दिया और कहा कि इसे हिफाजत से रखना। परन्तु आप उधर ध्यान नहीं देकर अभी तक बच्चे की क्रिया कर रहे हैं।

यह ठीक है कि व्यवहार में आप बच्चे की अवस्था से गुजर चुके हैं और बच्चों जैसा धूल भरना, क्रिया करना, आप पसन्द नहीं करोगे? मगर पाप की धूल भरना कैसे पसन्द कर रहे हैं? इसका भी कभी ख्याल आता है कि ज्ञानियों ने जिसे धूल कहा है, प्रमाद में पड़कर उसको कैसे भर रहे हो? इस भ्रान्ति और भूल के कारणों को छोड़िये। भ० महावीर ने कहा कि मानव! अपने इस उच्चतम जीवन को पाकर तू यह समझ और ध्यान कर कि जिन्दगी का समय थोड़ा और मंजिल दूर है। तो क्या यह थोड़ा समय भी, विषय कषाय में ही पूरा कर देगा और भोगेच्छा को पूरी करने, आत्म-साधना को यह कहकर टालता जायेगा कि आज नहीं कल करूँगा, परसों करूँगा। अभी तो जरा खालूँ, पीलूँ, जीवन का आनन्द उठा लूँ? पीछे बारह व्रतधारी, पड़िमा व्रतधारी बन जाऊँगा। ऐसा शेख चिल्लीवाला मंसूबा कि मैं राजा बन जाऊँगा। शेख चिल्ली जैसे सोचता बहुत है। वह अपनी कल्पना की उड़ान में राजाधिराज भी

बन जाता है, हुकूमत भी कर लेता है, शान और महिमा भी बघार लेता है। परन्तु शेख चिल्ली की यह सारी माया कल्पना की माया है। जो राज मिला लिया, सेना मिला ली और पड़ौसी देश पर हमलाकर उसे जीत भी लिया। यह सारा खेल कल्पना में होता है। किन्तु आँख खुलने पर पता चलता है कि घर से एक कदम भी बाहर नहीं गया। दरवाजे और दीवार के बाहर पांव भी नहीं रखा। यह सारा मंसूबा कल्पना में ही बाँधा और कल्पना का महल क्षणभर में बिखर गया।

यदि इसी तरह आप भी कल्पना के जगत् में घूमते रहे और कल्पना को साधना का साकार रूप नहीं दिया तो नतीजा क्या निकलेगा? कभी-कभी साधना को साकार रूप देनेवाले, असली जामा पहनानेवाले भी, गफलत खा जाते हैं, प्रमाद में पड़ जाते हैं तो जिसने कुछ भी नहीं किया उसकी बात क्या? थोड़ा भी करो तो जाग्रतभाव से करो, प्रमाद छोड़ करो, होश में आकर करो, किन्तु तन्द्रा या सुषुप्ति में नहीं करो। यदि मन में जागृति की ज्योति जगाकर करोगे और सतर्कतापूर्वक सोचोगे कि हमारी जिन्दगी कितनी क्षणिक और भंगुर है? अतः पल-पल का उपयोग करना चाहिये। इस तरह भान में, होश में जो कुछ करोगे, उससे बन्धन कटेंगे, भव प्रपंच दूर होंगे। बेभान बनकर, प्रमत्त दशा में सतत क्रियाशील बना रहने पर भी आपका मतलब हल नहीं होगा, सफलता नहीं मिलेगी। सावधानी से की गई क्रिया ही फलवती होती है और नतीजा अच्छा होता है।

सम्यक्त्व के बिना भव भ्रमण

भ० महावीर ने भी सम्यक्त्व के अभाव में अनन्त-अनन्त जन्म गुजार दिये, परन्तु ऊपर नहीं आये। मनुष्य और देव का भव पाते हुए भी उसमें की जानेवाली क्रिया सम्यक्त्व और विवेक रहित थी। अतः जन्म-मरण नहीं घटा पाये। तीर्थंकर होनेवाले प्राणी भी कर्मवश जन्म-मरण के चक्कर में भटकते हैं, यह संसार का

नियम है। इस तरह पन्द्रह भव बीत गये और जब नयसार के भव में प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई तब से जन्म-मरण की सीमा में आये।

भ० महावीर की आत्मा सोलहवें भव में ऊपर आयीं। अब राजकुल में जन्म हुआ। कुल अच्छा मिला और साथ ही नव बोल भी मिल गये। उत्तम कुल, इन्द्रियाँ पूर्ण और आयु भी दीर्घ मिली। जैसे कि कहा है—

विश्वभूति युवराज पुत्र, हो दीक्षित होते हैं।
मुनि संभूति की शिक्षा से, वे जग सुख तजते हैं।

महावीर के जीव ने राजगृही में युवराज के शक्तिशाली पुत्र रूप से जन्म लिया। मरीचि का जीव कुल बल आदि की अच्छाई से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते तरुण हुआ और संस्कार की प्रबलता से एक दिन सत्संग का भी अवसर मिलाया। क्योंकि जहाँ घर का, माता-पिता एवं परिजन का वातावरण सुसंस्कृत होता और धर्म के प्रति प्रेम होता, वहाँ सत्संग का असर जीवन में उतरना कठिन नहीं होता।

युवराज के यहाँ सुखोपभोग्य सामग्रियों तथा ऋद्धियों की ढ़ेर थी, फिर भी सत्संग के कारण उनको विरक्ति हो गई। ज्ञात हुआ कि दुनियाँ की सारी वस्तुएँ नाशवान् हैं। एक दिन ये हमें छोड़कर चली जायेंगी तो मैं ज्ञानपूर्वक इन्हें छोड़ दूँ तो कैसा अच्छा रहेगा। इसी में भला और कल्याण है। कोई भी व्यक्ति दूसरे की वस्तु का उपयोग करते हुए, उसके माँगने की इच्छा समझ, माँगने से पहले ही वह वस्तु उसे लौटा दे, इसमें उसकी इज्जत, मान, प्रतिष्ठा तथा सूझ-बूझ और होशियारी है। वस्तुवाला झुँझलाकर, आवेश में आकर, जबरन उससे वह वस्तु ले ले तो इसमें कुछ भी भलमनसियत या विवेक नहीं कहा जाता। बल्कि इससे छोड़नेवाले की अधमता और मूर्खता ही प्रगट् होती है। समझदार व्यक्ति को बिना कहे स्वयं परायी वस्तु पर को संभला देनी चाहिये।

इस तरह परायी वस्तु पर को संभलाने की कदाचित् आपने बुद्धिमानी दिखाई होगी, विवेक बताया होगा, सम्भव है। मगर जिस हवेली में बैठे हैं, जब उसमें से सदा-सदा के लिए जाने का समय आता है, यमदूत आकर कहता है कि इसे छोड़ो और चलो तो जाने का मन नहीं होता। डाक्टर और वैद्य को बुलाने की बात कहते हो और आक्सीजन या रसायन लेने की आतुरता दिखाने लगते हो। उस समय शरीर रूप हवेली छोड़कर कहीं जाने का मन नहीं करता। बच्चे-बच्ची की शादी, बंगले बनाना, बगीचे लगाना और भौतिक सम्पदा से भवन को भरना आदि कितनी ही कल्पित इच्छायें, जाने के मार्ग में रुकावट डालती हैं। मगर विश्वभूति ने सोचा कि ये सारी सांसारिक वस्तुएँ नाशवान् हैं, एक दिन छूटनेवाली हैं, तो क्यों न मैं इन्हें स्वयं छोड़ दूँ और ऐसा सोचकर वह सत्संग में दीक्षित हो गया।

दीक्षित होकर उसने सारी सुख सुविधाओं को ठोकर मार दी। आराम और भोग को तिलांजलि दे दी। उसने कहा कि दो काम दुनियां में साथ नहीं होंगे, एक घर गृहस्थी की संभाल और दूसरा धर्म की साधना। बाल-बच्चे और स्त्री को भी अच्छी तरह राजी रक्खें और धर्म गुरु की आज्ञा का भी पूर्ण पालन कर लें। यदि महीने में छः-छः पौषध कर लेंगे तो घर के सब नाराज हो जायेंगे। आर्तध्यान, रौद्रध्यान करना पड़ेगा। इससे तो अच्छा है कि थोड़ा-थोड़ा करके दोनों ओर लगे रहें। मगर यह दो नाव पर पांव रखने जैसी बात अच्छी नहीं होती। ताज्जुब है कि जीवन की क्षण भंगुरता समझते हुए भी, आपसे घर छोड़ा नहीं जाता।

दूसरी ओर नगर के बाहर अन्य समाज के लोगों को देखते हैं कि—कई लोग बाबा का रूप धारण कर अलग-अलग डेरों में बाल-बच्चों को छोड़ बैठे हैं। कोई जटाजूट बढ़ाये, भस्म से समग्र अँग पुता हुआ, कोई महादेव की चौकी पर है तो कोई राम और हनुमान् की चौकी पर बैठा है। वैष्णव मत में पिछली अवस्था में, घर छोड़ने

वाले पचासों मिल जायेंगे। उन्हें पूर्ण त्याग का मार्ग यद्यपि किसी ने नहीं समझाया, परन्तु घर और बाल-बच्चे झट छोड़ दिए और मन चाही जगह में बैठ रामराम रटने लगे। साधु बनकर गांजा, भँग पीने लग गए। यह बात गलत है किन्तु उनका घर छोड़ना, बाल-बच्चों से अलग होना और बन्धु बांधवों से मुख मोड़कर, एकान्त में भजन करना गलत नहीं है।

परन्तु आप में उनकी तरह ही सही, घर छोड़ने की ताकत है क्या ? आप तो सोचेंगे कि वे तो गरीब घर के हैं, मेरी आलीशान कोठियां हैं, बाग-बगीचे हैं, बैंक में सम्पत्ति जमा है तथा विविध उद्योग-धन्धे हैं। मैं इस अपार सम्पदा को छोड़ कैसे दूँ ? किन्तु आपको मालूम नहीं कि उन वैष्णव बाबाओं में भी कई उच्च सम्पदाओं के स्वामी, पदाधिकारी और समाजसेवी व्यक्ति होते हैं, जो भावना बदलते ही सब त्यागकर हिमालय या हरिद्वार में जाकर साधना में तल्लीन हो जाते।

मुझे कभी किसी ने सुनाया कि एक पाली का सेठ पुष्कर की बगीची में बाबा बने बैठे हैं। तो मैं ऐसे रागियों के नमूने को देखकर और सुनकर सोचता हूँ कि वहां तो राग का मार्ग है और यहां वीतराग का मार्ग है। वे तो रामकृष्ण और गौ सेवा आदि के राग से निकल जाते। वैसे चतुर्विध संघ के धर्मानुराग से, आपको भी सीमित गृह त्याग के लिए तो आगे आना चाहिये। परन्तु आश्चर्य है कि लोग बदलते हुए समय में राजनीति के डंडे खाकर भी नहीं समझते। लोग इतने परिवार के साथ रहने के आदी हो गए हैं कि वे बाल-बच्चों के हाथों जाने में ही अपनी पुण्याई मानते हैं। इस तरह से कीड़े-मकोड़े की तरह जन्मे और विषय-कषाय के बीच में, सड़ सड़ कर मर गए तो इसमें मजेदारी है या देवगुरु के स्मरण करते मरने में मजेदारी या बुद्धिमानी है ?

विश्वभूति का चिन्तन

विश्वभूति यह समझकर कि जिन्दगी के अन्तिम क्षण भी यदि भगवान् के चरणों में और उनकी आज्ञा पालने में बीते तो मेरा

मानव जन्म पाना सफल हो जायेगा। तिजोरी और बाल-बच्चों के बीच में बैठे-सोए तो सभी मरते हैं। उनमें उनका आर्तध्यान बना रहता है, अतः मुझे स्नेह का तन्तु काटना है, यह सोचकर वह साधु हो गया। फिर उसने सोचा कि साधु बना हूँ तो मात्र पेट भरने के लिए नहीं बना हूँ। पेट तो घर में भी भली-भांति भरा जा सकता था। साधु बनने का मतलब है, कुछ साधना करूँ? साधु बनकर भी केवल खाया, पिया और तानकर सो गया तथा जगा तो प्रमाद में विकथा में समय बिताया तो मेरे साधु बनने का वास्तव में कोई लाभ नहीं होगा

साधक के लिए कहा है कि—

"साधु सो तो साधे काया, कोड़ी एक न राखे माया।
लेना एक न देना दो, ऐसा पंथ साधु का होय॥

साधना करूंगा तो ही मैं साधु कहलाऊंगा और नहीं तो स्वादु कहलाऊंगा। याने जो दस घरों से आने वाली विविध वस्तुओं का आस्वादन करने में ही आनन्द मानता है, वह स्वादु है। वह गोचरी में दस तरह की चीजों को लाकर अपना मुंह मीठा करता है और साधना नहीं करता। भन्ते! वह साधु वेष में हो, फिर भी स्वादु है, साधु नहीं।

विश्वभूति की जिन्दगी एक हजार वर्ष की थी। आज तो पच्चीस पचास की जिन्दगी में भी यह पता नहीं कि इस रूप में कब तक रहेंगे? फिर भी पैर फैलाकर चद्दर तानकर कुंभकर्ण में सोए हुए हैं। उस हजार वर्ष वाले राजपुत्र ने तो दीक्षित होकर सोचा कि ज्ञान-ध्यान के साथ कुछ तप भी करना है। ऐसा सोचकर उसने जीवन में पहली बार मास-मास खमण की तपस्या शुरू कर दी। तपस्या में भी वह ज्ञान-ध्यान करता रहा। आराम नहीं, सोना नहीं। क्योंकि वह जान रहा था कि सोएगा वही जो निश्चिन्त हो? जिसको यह निश्चय हो कि मैं नहीं मरूंगा।

सोचिए ! आप चिन्ताशील हैं या निश्चिन्त ? आपको और हमको भी यदि अपनी जिन्दगी पर भरोसा नहीं हो और कर्मबन्धन काटने की चिन्ता हो तो प्रमाद में सोना नहीं है। युवराज का पुत्र विश्वभूति मुनि ज्ञानध्यान और तप की साधना कैसे करता है और कैसे उसे विघ्न आकर घेरते हैं एवं कैसे वह विघ्नों पर विजय प्राप्त कर अपनी साधना पूरी करता है, वह आगे ज्ञात होगा।

मैं कह गया हूँ कि समय थोड़ा और मंजिल दूर है। तो क्या मंजिल पर पहुंचना है या बीच में ही अटकना है ? कहीं ऐसा नहीं हो कि इधर से भी हट गए और उधर से भी। बीच में चमगीदड़ की तरह लटकते रहे। श्रावक व्रत में हो या साधु व्रत में, परन्तु सावधानी पूर्वक किसी में साधना करोगे तो आत्मा को इस लोक और परलोक में आनन्द और कल्याण की प्राप्ति हो सकेगी।

●●

आज आपको इसी बात पर विचार करना है कि धर्म-सभा के श्रोताओं के सुनने का तरीका क्या है ? क्या सभी श्रोताओं के सुनने की पद्धति एक जैसी है ? नहीं। राज्य सभा, समाज सभा, विधान सभा और धारा सभा के श्रोता और धर्म सभा के श्रोताओं की भावना और श्रवण पद्धति की दृष्टि से बहुत कुछ अन्तर है, भेद और विलगाव है। राज्य सभा और समाज सभा का जब प्रसंग आता है तो उस समय व्यक्ति, उन सभाओं में जो बात कही जाती है, प्रस्ताव रखा जाता है, उन्हें बड़ी सावधानी से सुनता है। क्योंकि उसमें उसका स्वार्थ रहता है। भौतिक परिवार का, समाज का, अपने मामले-मुकदमे में, न्यायाधीश या वकील के भाषण का जहाँ प्रश्न रहता है, वहां लोग दत्तचित्त होकर, मनोयोगपूर्वक, सब कुछ सुनता है। कारण, जरा-सा चूक गये—गफलत में रह गये, कही हुई बातों का अवधान भली-भांति नहीं कर पाये तो हित से वंचित होने का डर बना रहता है। अतः पूर्ण सावधानी से वह उसको सुनता है।

हर सभा के अधिकारी के कहने का ढंग भी निराला होता है। वह खुले शब्दों में कहता है, आदेश की भाषा में कहता है। उन्हें लम्बा चौड़ा प्रवचन कर, विस्तारपूर्वक समझाने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि उनके पास बल है। वे समाज या राज्याधिकारी यह मानते हैं कि हमारी विज्ञप्ति, निर्णय या फैसला कोई नहीं मानेगा तो उसे अधिकार के दण्ड से दण्डित किया जायेगा। इसलिए समाज की सभा, राजकीय सभा या ऐसी ही किसी और दूसरी सभा के अधिकारी को, व्यवस्थापक को, अपनी बात, कथा, दृष्टान्त और युक्तियों से समझाने की आवश्यकता नहीं होती है। वह अपनी बात को, मुद्दे को साफ करेगा और फिर हुक्म—आदेश का रूप देगा। वहां हर आदमी को अपने स्वार्थ में सम्बन्ध है। धारा सभा और विधान सभा में नहीं पहुँचा और कभी कानून पास हो गया तो उसे लोग पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने की कोशिश करेंगे। क्योंकि उनमें स्वार्थ एवं भय का सम्बन्ध होने से, सबको उसकी आवश्यकता दिखती है।

धर्म सभा की बात उतनी आवश्यक नहीं मानी जाती। इसलिए धर्म सभा में श्रोता का मनोभाव वैसा नहीं रहता, दृष्टि वैसी नहीं रहती। धर्म श्रवण का व्यावहारिक जीवन में, उपयोग दिखाई नहीं देता। अतः श्रोता धर्मश्रवण के लिए सम्यक् प्रयत्न ही नहीं करता। कारण, धर्मश्रवण का लाभ इतना ही समझा जाता है कि नगर में संत विराजमान हैं, व्याख्यान नहीं सुनेंगे तो नगर की शोभा नहीं दिखेगी। व्याख्यान सुनने से गांव की शोभा, समाज की शोभा, संतों को खुशी और पुण्यलाभ होगा। फिर शास्त्र-वचन मंगलकारी भी है, अतः सुनना चाहिये। सुनकर समझा या नहीं समझा, धारण किया या नहीं, इसकी कोई चिन्ता नहीं। केवल ठीक समझकर, मंगलकारी समझकर सुनता है।

यह समझकर कि मुझको इसमें से जीवनोपयोगी भावों को पकड़कर धर्माचार्य से सम्यग्दर्शन पाना है। साधना के मार्ग में आयीं बाधाओं से बचने का उपाय जानना है। इस तरह साधना के लिए ध्यानपूर्वक सुनने को, उपस्थित श्रोताओं में अधिकांश का ध्यान नहीं है। सौ में दस-बीस श्रोता ऐसे मिलेंगे जो साधना में बल देनेवाली, सहायता करनेवाली बातों पर अपेक्षित ध्यान रखते और धर्म के मर्म को जानने की कोशिश करते हों।

भाषणों की भिन्न पद्धति और प्रभाव

धर्म सभा में जितने श्रोता होते हैं, इतने किसी कालेज के अध्यापक के पास हों तो वे किस तरह सुनेंगे। कालेज के भाषण की पद्धति से आप बुजुर्ग अनजान होंगे, मगर जिन नौजवानों ने नजदीक से उसे देखा है, वे जानते हैं कि वहां एक प्रोफेसर बोलता है और सब उसे सुनते हैं। स्कूल की पढ़ाई और होती है। वहाँ श्यामपट्ट पर पाठ लिखा जाता है या बोर्ड पर विषय की सूचना की जाती है। परन्तु कालेज की पढ़ाई में अन्तर होता है। कालेज के शिक्षक प्रोफेसर कहलाते हैं और वे अपने विषय पर खड़े होकर भाषण—वक्तृता देते हैं। छात्र पुस्तकें नहीं रखकर नोट-बुक, पेंसिल और कापी रखते

हैं। प्रोफेसर बोलता जाता है, परन्तु क्या मजाल कि वर्ग के पचासों या सैंकड़ों लड़कों में से कोई उसका भाषण नहीं सुने ! वह विज्ञान का प्रवचन कर रहा है, अर्थशास्त्र की बात कर रहा है, भूगोल, इतिहास और दर्शन की बात कर रहा है, उसके सुननेवाले लड़के, अन्यत्र कहीं ख्याल न रख, उसके भाषण के सार मुद्दों का नोट करते जायेंगे। बस, इतने भर से, पढ़ाई से प्रोफेसर बरी हो गया। उसे किसी लड़के से यह पूछने की जरूरत नहीं कि कितना समझा और कितना नहीं ?

साल भर में जितने दिन प्रोफेसर को कालेज में जाना है, लेक्चर (प्रवचन) देना है और लड़कों को जितने दिनों की हाजिरी देनी है, उतने दिनों तक वे जायेंगे। और परीक्षा के समय में सफलता और असफलता के सूचक प्रमाण-पत्र प्राप्त हो जायेंगे। यदि वे लड़के आप लोगों की तरह ऊँघते हुए भाषण सुनें और लेक्चरार (प्रोफेसर) साधु की तरह बोलता रहे तो नतीजा क्या निकलेगा ? परीक्षा में बैठकर उन लड़कों को कितने अंक प्राप्त हो सकेंगे ? पुस्तकों का शिक्षण नहीं पाने पर भी वे पाठ्य पुस्तकों की मदद से, सहायकों से कुछ मदद मिला लेंगे। परन्तु जो व्यावहारिक हैं, प्रायोगिक हैं उन्हें यदि ख्याल से नहीं सुना तो असफलता ही हाथ लगेगी।

महत्व धर्म सभा का या दूसरी सभा का

मैं समझना चाहूंगा कि उस शिक्षण सभा और प्रोफेसर एवं विद्यार्थियों से इस धर्म सभा का महत्व हल्का है या ऊँचा है ? वेतन-भोगी उस कालेज के प्रोफेसर से एक श्रमण त्यागी-साधु-साध्वी का बोलना, प्रवचन करना कम मूल्यवान् है या अधिक मूल्यवान् ? बोलने के लिए आप बोल गये कि श्रमण का प्रवचन मूल्यवान् है। किन्तु इसकी अल्प-मूल्यता और महर्घता मात्र आपके वचनों से नहीं, व्यवहार से प्रकट होनी चाहिये।

प्रतिदिन घंटे भर मुनि लोग आपके बीच बोलें तो उनकी दो बातें आपके दिमाग या डायरी में नोट मिलनी चाहिये। ढाई महीने

पहले की नहीं परन्तु सात दिन पहले की भी बात पूछूं तो आप बता सकोगे न ? मुनिजी ने बारह व्रतों की बात कह डाली । सुबाहु के प्रसंग से सब कुछ समझा दिया । किन्तु यदि अब बारह व्रतों के नाम पूछ लूं, अजमेर या बाहर के श्रोताओं से तो क्या व्रतों के नाम आप लोग पूरे रूप में बता देंगे ? श्रोता एक भी नहीं बोले । क्या इस चुप्पी में आप कोई विशेष महत्व देख रहे हैं !

सुजात कुमार के प्रसंग से मैं यह बता रहा था कि आपके सुनने के तरीके में क्या कमी है ? और अब उसमें क्या परिवर्तन करना है ? धर्म सभा के श्रवण के तरीके में किस रूप में परिवर्तन करना है, जिससे वह कामयाब बन सके । एक राजनैतिक पार्टी का नेता किसी नगर या कस्बे में आ गया तो घंटे भर भाषण के पश्चात् वह सभा को सम्बोधित करेगा कि अपने यहां की शाखा में यह काम करना है । उसके कहने और जाने के बाद, वहां का व्यवस्थापक उस काम को प्रारंभ कर देगा और नेता को वापिस वहाँ आने पर, यह देखने को नहीं मिलेगा कि मेरे संकेत का काम नहीं हुआ ।

आध्यात्मिक बात तो सुनकर भी नहीं सुनते

आश्चर्य है कि हम साधुओं का उपदेश आत्मकल्याण का कथन, आप सुनकर भी ध्यान में नहीं रखते । हम आपको स्वाध्याय के लिए कह रहे हैं, तो कोई सुनवाई नहीं । धर्म-व्यवस्था और संघ-व्यवस्था के लिए कहते हैं, तो भी उस पर ध्यान नहीं दिया जाता । इसका मतलब यह नहीं कि आप सुनते नहीं, सुनते जा रहे हैं, मुख मुद्रा से हर्ष भी व्यक्त करते हैं, किन्तु उनमें कुछ मुद्दे की बात पकड़ते नहीं । इस तरह आप सुनी अनसुनी कर जाते हैं । क्या मैं ऐसा मानूं कि आप लोगों के मन में हमारे उपदेश का अभी तक कुछ मूल्य नहीं लगा । और आपने हमारे उपदेश को महत्वपूर्ण नहीं समझा ।

कहने का मतलब यह हुआ कि जैन श्रमण शेषकाल में रहें या वर्षाकाल में, परिश्रम करके, पसीना बहाकर, उत्तम शैली में,

ऊँची से ऊँची बात क्यों न कहें, परन्तु उनका कथन अरण्यरोदन के समान हो जाता है। यह ठीक है कि एकान्त शान्त जन-रहित जंगल में, रोने चिल्लाने पर, सान्त्वना देनेवाला, आँसू पोंछनेवाला, दुःख-दर्द सुननेवाला कौन मिले ? मगर सैंकड़ों हजारों के बीच में बोलनेवाले के दुःख-दर्द को दूर करने की और सहानुभूति के रूप से सहयोग की बात कोई नहीं करे, चुपचाप चित्रवत् बैठा रहे तो उस नगर को नगर कहना या जंगल कहना ! किसी राजस्थानी कवि ने ठीक ही कहा है—

> **"हित, अहित जिण गाँव, सुणे न कोई साँभले।**
> **उण नगरी बीच नाँव, रोही भलेरी राजिया॥"**

मैं चिन्तन करता हूँ तो मालूम होता है कि इतने बड़े-बड़े राजकुमारों ने प्रवचन सुना और एक बार के सुनने से ही, उनके राजस जीवन में, सहसा सात्विक परिवर्तन आ गया। सुख छोड़कर उन्होंने दुःख को सहर्ष गले लगाया। आज का चिन्तन इस विचार के लिए प्रेरणा करता है कि उनके सुनने में और इनके सुनने में कोई अन्तर है ? क्या बात है ? मालूम होता है कि उस समय वे श्रोता अपना व्यावहारिक दायित्व मानते थे। इसलिए आज की तरह उन श्रमण—निर्ग्रन्थ और महापुरुषों को, समाज की बाहरी व्यवस्था सुधारने का कोई संकेत ही नहीं करना पड़ता। व्यवहार से समाज की आवश्यकता और उसकी पूर्ति के साधनों का वे श्रावक अपने आप ही ख्याल कर लेते। इतने कुशल थे वे लोग।

इशारा कैसे समझें !

एक प्राचीन कवि ने कहा कि योग्य शिष्य एवं सन्तान को चाहिये कि गुरु तथा पिता के संकेत से उनके मनोगत भावना को समझे और कार्य करे। हर बात संतों की मर्यादा में कहने की नहीं होती। पूज्य माधवमुनि के समय, एक बार किसी श्रावक ने कहा—महाराज ! आप लोग खुलकर स्पष्ट रूप से कोई बात नहीं कहते कि

ऐसा करो, तुमको यह काम करना होगा। बिना साफ कहे हम कैसे समझें। हम तो इशारे पर समझ नहीं पाते। तो उन्होंने कहा—भाई! बात ठीक है। पर जरा विचार करो। किसी पिता ने अपने लड़के को तरुणाई की ओर बढ़ते देखा। इन्द्रियों में चंचलता और आँखों में शरारत देखी तो सोचा कि इसकी अब शादी कर दूँ। ऐसा सोचकर पिता ने, अच्छे घराने की लड़की से उसकी शादी कर दी और बहू भी घर ले आया। उनके रहने के लिए कमरा भी बना दिया। सोने बिछाने की सारी व्यवस्था कर दी।

शाम को जब लड़का पिता के पास आकर बैठा और बातचीत करने लगा। बात करते-करते रात होने को आयी। कुछ अधिक रात बीतने पर, पिता ने प्रेम से कहा—बेटा! समय सोने का आ गया है। अब तुम अपने कमरे में चले जाओ। बातें तो कल भी होंगी। अभी तो जाओ और सो जाओ। यह सुनकर लड़का बोला—कि मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ? पिता ने कहा—तुम्हारा वह कमरा है, बैठक है, वहाँ सारी व्यवस्था है और तुम वहाँ जाकर सो जाओ। अब तुम शादीशुदा—विवाहित हो चुके हो। मगर इतना कहने पर भी लड़का समझ नहीं पाया और वह आप सबकी तरह ही पूछने लगा कि मैं वहाँ क्या करूँ? पिता को हँसी भी आयी और साथ ही झिझक भी। उसने जोर से कहा—नादान! अगर मैं तेरी ऐसी नादानी को पहले समझता तो तेरी शादी ही नहीं करता।

सोचिए—इससे बढ़कर पिता ऐसे प्रसंग में, अधिक स्पष्ट और क्या कहता? मर्यादा के बाहर की बात पिता के मुँह से निकलने में शोभा नहीं रहती। हाँ, तो साधु महात्माओं के श्रोता को राजसभा के, कालेज के छात्र श्रोताओं से अधिक विवेकशील होना चाहिये। पुराने श्रावक कहीं साधु-साध्वियों के समाचार करने होते तो संकेत में समझ लेते और आगे होकर पूछ लेते। साधु को कहना नहीं पड़ता कि जरा चिट्ठी का उत्तर लिख देना। साधु-साध्वी के असाता-अस्वस्थता की स्थिति में योग्य डाक्टर वैद्य को बिना कहे ही दिखाने की व्यवस्था

करते। धार्मिक शिक्षण की प्रेरणा पाते ही, शिक्षक आदि के लिए बिना कहे ही कार्य करते। औषध—भैषज्य में यह ध्यान रखते कि साधु को यथा संभव दोष नहीं लगे। श्रावक समाज के विवेक से ही साधु-साध्वी का संयम निर्मल रह सकता है। फिर विवेकी श्रावकों को धारणा शक्तिवाले और इशारे को पकड़कर चलनेवाले होने चाहिये।

आस्रव त्याग बिना विशेष लाभ नहीं

आप अपने यहाँ के होनेवाले मासखमण आदि बहुत सारी छोटी-मोटी तपस्याओं और त्याग व्रत—नियम देखकर, यह समझते हो कि हमारी पेढ़ी में आय बहुत है तो यह बात ठीक नहीं। हमको पेढ़ी की आमद को मूल से पकड़ना है। यहाँ व्रत भी दो प्रकार के होते हैं, एक साधु के और दूसरे श्रावक के। एक मूलगुण पच्चक्खाण और दूसरा उत्तरगुण पच्चक्खाण। अहिंसादि पांचों ये हमारे मूलगुण हैं जो कि साधु के पांच महाव्रत कहे जाते और श्रावक के पांच अणुव्रत। मूलगुण का पालन हर साधु के लिए अनिवार्य है।

यदि कोई साधु एकान्तर करता है, जिन्दगी भर एक दिन खाता है और एक दिन नहीं खाता। भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ गया हुआ दूसरा साधु, बचा-खुचा उसके घर का, शेष भोजन लाकर खाता है और अच्छे पदार्थों की भिक्षा ग्रहण नहीं करता है। भ० महावीर ने कहा—यह साधु का उत्तरगुण है। ऐसे पच्चक्खाणों में नवकारसी से लेकर अभिग्रह तक उत्तरगुण के पच्चक्खाण हैं। भोग और उपभोग की मर्यादा के ये सारे के सारे उत्तरगुण के दायरे में आते हैं। साधुओं के नित्य अभिग्रह आदि के पच्चक्खाण उत्तरगुण हैं, मूलगुण तो उपरोक्त अहिंसादि हैं। यदि साधु नवकारसी का प्रत्याख्यान नहीं भी करे तो वह साधुपन में स्थित रह सकता है। परन्तु पंच-महाव्रतों में एक व्रत की भी छूट चाहे तो वह महाव्रती साधु नहीं रह सकता। नवकारसी या अन्नादि त्याग का महत्व मूलगुण की स्थिति में है। केवल खाने-पीने का त्यागकर आस्रव-हिंसादि खुला रक्खे तो

कर्मबन्ध अधिक होगा और निर्जरा का लाभ कम। तप से असाता वेदनीय का कर्म कटता है, पर सही लाभ संवर करनी स्वीकार करने पर ही होता है।

आज मूलगुण याने अहिंसादि संवर साधन का अभ्यास कम हो गया है। यदि पूछा जाय कि आप श्रावकों में मूलगुणों के धारण करने वाले कितने हैं ? अथवा तप करने वाले ने पौषध कितने किये तो उत्तर नहीं दे सकेंगे। किन्तु याद रहे, उत्तरगुण के व्रत मूल को पुष्ट करने के लिए है। यदि मूल ही नहीं हो तो उत्तर से पुष्टि किसकी ? सामायिक का अभ्यास भी इसीलिए बताया गया है। परन्तु आचार्यों द्वारा बतायी गयी विधि को कोई मन से सुने तभी तो ग्रहण कर पायेगा।

सुनना विधि से हो

किसी भी तत्व को सुनना और पकड़ना हो तो विधि से हो। विधि से नहीं हो तो बात आगे कैसे आयेगी ? चाहे आपको सुनने का कम मौका आये और हमको कम सुनाने का। परन्तु अविधि को टालने और विधि को पकड़ने की बात समझाने के लिए, हम संतों को भी, आज की छोटी आयु वाले समाज के प्रत्याख्यानी जीवों को, मुमुक्षुओं को ऐसा मार्गदर्शन देना चाहिये कि जो उनके जीवन को उपयोगी हो सके। उनका जीवन ऊँचा उठा सके, ऐसी बातों में मार्ग-दर्शन देना, यह काम हमारा है। और उसे क्रियात्मक-मूर्तरूप देना श्रावकों का काम है। हम कुछ कहकर आपके मन को प्रमुदित करें तो इसका मतलब यह नहीं कि आप मूलगुण पर ध्यान देना छोड़ दें। मैं भी आपको ऐसी बात कहूं जो मूल को छूने वाली हो एवं जीवन को निर्मल बनाने वाली हो। इस तरह आप लोगों के श्रवण का तरीका बदला तो एक चौमासे में आपकी और आपके नगर की काया बदल जानी चाहिये।

परन्तु आज की स्थिति में या तो हमारे सुनाने का तरीका सक्षम नहीं है। उसमें आपके जीवन को छूने की बात बराबर नहीं

आ रही है या उसे आप सही रूप में पकड़ नहीं पा रहे हैं। स्मरण रहे कि चार महीने के बाद यदि आप वहीं के वहीं रह जायेंगे और समाज की स्थिति ज्यों की ज्यों बनी रहेगी तो कोई आने वाला देखकर कहेगा कि इनको यही पाठ पढ़ाया गया है। मास्टर की कुशलता या अकुशलता की प्रतिच्छया छात्रों में दिखाई देती है। लड़के ही मास्टर के प्रमाण-पत्र होते हैं। वैसे ही हमारे संस्कार प्रदान का प्रमाण आपका जीवन है। आप श्रोता हमारे प्रवचन का मूल्यांकन करने वाले हैं। आप यदि चरित्र को ठीक नहीं बनायेंगे तो हमारा कहना केवल बालू में घी डालने के समान होगा। इस पर जरा गहराई से ख्याल करें।

भ० महावीर ने उन राजपुत्रों को ये सारी बातें कहकर बतायीं या आचरण का भी रूप दिया ? महावीर कहने से अधिक आचरण में निष्ठा रखने वाले थे। उन्होंने कहा कि वस्तु के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए, भाषा का उपयोग किया जाता है। जब तक भाषा के वाहन द्वारा, अपने विचारों को श्रोता के सामने नहीं पहुंचायेंगे, हमारे विचार उनको नहीं मालूम होंगे। अतः अपने भावों को आप तक पहुंचाने के लिए हमको भाषा का माध्यम अपनाना पड़ेगा और अपने आचरण के द्वारा, उसके यथार्थ बोध का परिचय देना होगा। इसके सिवा संस्कार प्रदान का और कोई पुष्ट मार्ग नहीं है।

समय लौटकर नहीं आता

आज भादवा सुदी चातुर्मास का तीसरा महीना चल रहा है। अढ़ाई महीने पूरे हो गए, याने आपके नगर में हम लोगों को आए सप्ताह कम तीन महीने हो गए। इस बीच हमारा आपका पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहा। जितना समय अब तक बीता, उतना आगे बिताना नहीं है। हमारे लिए वर्षावास का, स्थान मुक्ति का समय निकट आ रहा है। आप सबको भी सेवा की जिम्मेदारी से मुक्ति का समय शीघ्र आने वाला है। तो भार के इस हल्का होने से पहले किसानी की एक बात सुनिये।

दो महीने तक परिश्रम करके, खेतों में बीज बोकर किसान हल्का हो जाता है। वह मंच बनाकर खेत में बैठता और उसकी रखवाली करता है। उसकी नजर इस समय खेत में लगी फसलों पर रहती है। उस समय आप तो क्या बड़े-बड़े लोग भी उसको अपने पास बुलायें तो वह किसी की नहीं सुनेगा और वहीं से बैठे कहेगा कि तुम्हें यदि बात कहनी है, या कुछ पूछना है तो इधर आ जाओ। वह इस काल में अपने मन से बादशाह बना होता है। उसे किसी की परवाह नहीं रहती। फसल की मस्ती से वह मस्त बना रहता है।

किसान की तरह अगर आपने भी आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप की फसल बढ़ा ली और समाज के क्षेत्र को, नगर के क्षेत्र को, प्रांत के क्षेत्र को, हरा-भरा कर लिया तो आप भी आध्यात्मिक क्षेत्र में बादशाहों के बादशाह बन जायेंगे। मगर यह सब आपकी भावना और स्थिति पर निर्भर है। आपके यहां एक आगंतुक भाई बत्तीस की तपस्या कर रहा है और आज उसकी पूर्णाहुति है। थोड़ी-थोड़ी बूंदें भी पड़ रही हैं, जिससे वर्षाकाल के चले जाने का भाव न हो। आप सब उस तपस्वी भाई की पूर्णाहुति में सहयोग के लिए कुछ न कुछ सोच रहे होंगे, तो क्या हमारी बातों पर जोकि मैंने आज तक आप सबके सामने रखीं, कुछ नहीं सोचेंगे? मैंने अभी कहा कि सच्चे श्रोता बनकर, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप मूलगुण का अभ्यास करें, उन्हें बनाये रक्खें, जोकि सम्यक् ज्ञान होने पर ही संभव है। भाई! समय चला जायेगा और बात रह जायेगी। कहीं ऐसा न हो कि हाथ मलमलकर पछताना पड़े। कहा है कि—

"मक्खी बैठी शहद पर, पंख लिए लिपटाय।
हाथ मले और सिर धुने, लालच बुरी बलाय॥

एक बार अकबर बादशाह ने बीरबल से पूछा कि बीरबल! यह मक्खी रोजाना यहाँ बैठकर यों-यों क्या करती है? तो उसने कहा—हुजूर! यह इसलिए ऐसा कर रही है कि आपने और आपके

नागरिकों ने जो पाया है, उन्हें मुट्ठी भर-भर कर लुटा रहे हैं। परन्तु इसने फूल-फूल से पराग इकट्ठी कर शहद का छत्ता तैयार किया और न स्वयं उसे खाया और न किसी को दिया। एक दिन किसी ने आकर धुँआ किया और छत्ते पर ढेला मार कर मधु का संचित खजाना लूट लिया। उस खजाने के लुट जाने पर यह पश्चात्ताप कर रही है और विचार कर रही है कि मैंने कुछ भी नहीं किया। पाया सो व्यर्थ ही गंवा दिया। इस प्रकार यह हाथ मलकर रोती और सिर धुनती है।

शायद मक्खी की बात ऐसी हो या उसका ऐसा स्वभाव हो। परन्तु इस पर से संसार के लोगों को विचार करना है कि इस साहबी के बीच में रहकर अपनी आत्मा को आगे बढ़ाकर और ज्ञान, दर्शन चरित्र एवं तप का यदि लाभ प्राप्त नहीं किया तो मक्खी जैसा हाल न हो ? इसलिए अपने आपको सही मायने में श्रोता बनकर, भगवान् वीतराग की वाणी को आप ध्यान से सुनेंगे और पकड़ेंगे तो आपकी आत्मा का भी उभय लोक में कल्याण होगा।

●●

६

धर्म से उभयलोक कल्याण

भगवान् और हमारा कल्याण

बन्धुओ ! अभी प्रार्थना में कहा गया कि भगवान् महावीर संसार में भद्र-कल्याण का निर्देश करनेवाले हैं। प्रार्थना की अन्तिम वाक्यावली में ये शब्द थे कि—"श्रीवीर भद्रं दिश" याने हे वीर ! आप हमें और संसार के समस्त जीवों को भद्र-कल्याण दर्शायें। भद्र शब्द का अर्थ है कल्याण, शुभ, श्रेयस् आदि। तो इन पर्यायवाची शब्दों के माफिक हमने भद्र शब्द का प्रयोग किया है। वह भी वीतराग के चरणों में, अभ्यर्थना के रूप में नहीं। परन्तु उनके प्रभाव एवं निमित्त से हमारे अशुभ कर्म कटते और शुभ का उदय होता। इसलिए उपचार से, एक दृष्टि से, व्यवहार की भाषा में उनको यह कहा जाता है कि प्रभु हमारे कल्याण—मंगल का निर्माण करनेवाले हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि हम अपना कल्याण स्वयं करते हैं। प्रभु तो मात्र मार्गदर्शन करते हैं।

प्रभु के द्वारा दर्शित कल्याण का मार्ग क्या है ? जरा इसको ध्यान में लीजिए। प्रभु के वचनों का, संदेशों का एवं उपदेशों का, जब हमारे अन्तर में स्थान मिलेगा तो हमारे आचरण पवित्र होंगे। सम्यग् आचरण से कर्म हल्के होंगे और पाप घटेंगे। फलस्वरूप हमें शान्तिलाभ होगा। इस प्रकार परम्परा से शान्तिलाभ के कारण प्रभु हुए। हमने शान्तिलाभ क्यों पाया ? कर्म हल्के होने से। कर्म हल्के क्यों हुए ? सद्बोध मिलने से। सद्बोध किससे जगा ? प्रभु की वाणी से। इस तरह सद्बोध जगाने का मूल कारण प्रभु की वाणी होने से, व्यवहार में प्रभु को सांसारिक जीवों के लिए कल्याण का उपदेशक और कल्याण करनेवाला भी कहा जाता है। प्रभु के वचनों पर अमल करने से कल्याण होता है, हुआ है और आगे भी होगा।

कल्याण के भेद और धर्म

कल्याण दो तरह का है, एक इस भव का और दूसरा परभव का। अभी साधारणतया लोग यही समझते हैं कि धर्म के आचरण से, भगवान् की भक्ति से, जीवन को सुसंस्कृत बनाने से, जन्म-मरण के बन्धन कटेंगे, मुक्ति मिलेगी और आत्मा पवित्र होगी। इसमें कोई दो मत या दो राय नहीं। परन्तु इसके पहले मैं आपका ध्यान इस ओर भी आकर्षित करना चाहूंगा कि क्या धर्म इस लोक का कल्याण किये बिना, सीधा परलोक का ही कल्याण करनेवाला है या इस लोक का भी कल्याण करता है ? धर्म को मात्र परलोक का पाथेय समझना, इस लोक का हितकारी नहीं, यह विचार पुष्ट और सुसंगत नहीं है। धर्म से दोनों लोकों का भला होता है। परन्तु यह पूरी तरह से ध्यान में ले लेना चाहिये कि धर्म उधार सौदा नहीं है। आज तक आप इसको उधार सौदा समझते रहे। धर्म को परलोक के लिए ही उपयोगी माना। इसलिए जब तक यह समझ बराबर नहीं होगी, धर्म के आचरण में भीतरी रस जागृत नहीं होगा और रस जागे विना अपेक्षित सफलता भी नहीं मिल पायेगी।

अर्थ और धर्म

पैसे से जो पैसा मिला, उससे क्या लाभ यह आपको बताने की जरूरत नहीं है। आप बच्चे, बूढ़े, जवान कोई भी हों, निश्चित रूप से कहेंगे कि महाराज ! धन से बच्चों की पढ़ाई-लिखाई, खाना-पीना, नौकर-चाकर, घोड़ागाडी, कोठी-बंगला, मोटरकार, कल-कारखाना और ऐश-आराम वगैरह सब चलते हैं। संसार में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है और मानव मन जिन्हें पाने को तरस रहा है, वे सभी सुख साधन, पैसे के होने पर ही प्राप्त होते हैं। पैसा है तो सब कुछ है, पैसा नहीं तो कुछ नहीं। पैसे का फल नकद और हाथ के आंवले की तरह स्पष्ट है। इस तरह आपको यह भी मालूम होना चाहिये कि धर्म से भी नगद लाभ हैं। धर्म का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है—असर है। धर्म लाभ का असर तन पर नहीं, मन पर होता है। इससे परिवार में; समाज में, जाति में और घर में एक अपूर्व शान्ति, सौमनस्य, मृदुता,

कोमलता, सरलता, सहिष्णुता, प्रसन्नता और स्वच्छता आदि दिव्य-दशायें प्राप्त होती हैं ।

पैसा द्रव्य, भय, शोक और चंचलता उत्पन्न करता है । पैसा से अशान्त मन मानव, अन्न धन पाकर भी भूखे रहता है । पैसा धर्म बढ़ाने के बदले, भाई से भाई को लड़ाता और भीषण बर्बादी करा देता है । देखा जाता है कि थोड़े से विवाद के कारण दो भाई लड़ बैठे और अन्त में विवाद की वस्तु पर से दोनों का अधिकार जाता रहा—तीसरा मालिक बन बैठा । ऐसे भी मौके आते हैं, जब किसी ने झूठी भी शिकायत कर दी तो राजकीय पदाधिकारी आकर खाना-तलाशी करते, बहियें देखते और इधर-उधर जांचकर कहते कि ठीक नहीं है, और उनको जप्त कर लेते । सीलबन्द उन पैसों से क्या लाभ ? तिजोड़ी में होते हुए भी घर में राशन लाना है, कपड़े लाने हैं, बच्चों की दवा लानी है या आवश्यक और वस्तु लानी है तो ऐसे मौके पर उधार से काम करना पड़ता है । धन अपना होते हुए भी, पराये की तरह निकालना संभव नहीं । यह है अर्थ की बात !

परन्तु धर्म का सौदा ऐसा नहीं है । धर्म के बारे में न तो किसी की शिकायत चल सकती और न उस पर सील ही लग सकती है । जब चाहो जितना चाहो कमाओ, जमा करो लाभ ही लाभ है । धर्म भीतर की बीमारी मिटाता है । इससे यदि किसी की प्रकृति में तीव्रता है—थोड़ी सी बात में वह उबल पड़ता है, दिमाग गर्म हो जाता है, बोलने में उत्तेजित हो जाता, मान भूल जाता, घर में परि-वार वालों से टकरा जाता तो ऐसे व्यक्ति को धर्म का बोध और पुण्य पाप की जानकारी होने पर मन बदल जाता है । धर्म के हृदय में उतरने से, उसके सारे विकार मिट जाते हैं ।

धर्म की महत्ता

धर्म आपको कभी दुःखी नहीं रहने देगा, पीड़ित नहीं होने देगा । पहले मैंने एक क्रोध भाव का उदाहरण दिया था और बतलाया था कि पैसे से क्या परिवार के सदस्यों का क्रोधी स्वभाव बदला जा

सकता है ? नहीं। परन्तु धर्म से बदला जा सकता है। कोई घमंडी व्यक्ति है, अकड़ा रहता है, बड़े-वूढ़ों से अकड़कर चलता है, परिवार में बोल-चाल नहीं करता तो उस अहंकारी व्यक्ति का अहंकार गल सकता है। इसलिए भ० महावीर ने कहा कि—भव्यात्माओ ! धर्म एक नकद सौदा है। वह केवल परलोक का ही लाभ देने वाला नहीं, परन्तु इस लोक में भी लाभप्रद है। परिवार में भी लाभ देने वाला है और जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन लाने वाला है। आवश्यकता है उसको सही रूप से पकड़ने-ग्रहण करने की।

प्राचीन आचार्यों ने फरमाया कि—"**धम्मो य ताणं सरणं गईय, धम्मं निसेविज्ज सुहं लहंति**"। याने धर्म ही त्राण है, शरण है, गति है, धर्म ही रक्षक और सुख प्राप्ति कराने वाला है। कोई मरने मारने को तैयार हो गया, परन्तु धर्म की शिक्षा से वह मरने को जाने वाला व्यक्ति स्वयं तिरा और दूसरों को भी तार दिया।

धर्म और हरिकेशी

आप सबने हरिकेशी मुनि की बात सुनी है। हीन जाति में जन्म पाने से जो तिरस्कार पाने लगे। स्थिति यहां तक पहुंची कि तिरस्कार से, अपमान से दुःखी होकर वे मरने की तैयारी में लगे हुए थे। जातीय-अपमान का दुःख उनके लिए इतना असह्य हो उठा कि वे झंपापात करके मरने को तैयार हो गए। वस्तुतः व्यक्ति के लिए अपमान, खासकर समाज और जाति का, जहर की घूंट से भी बढ़कर कड़वा एवं मृत्युदायक होता है।

संयोगवश उन्हें एक आध्यात्मिक संत का सत्संग मिल गया। उनकी मरणोन्मुख भावना देखकर संत ने कहा—अरे ! क्यों मरता है ? जरा शान्त हो जा। मरने से कोई लाभ मिलने वाला नहीं है। यह तो कायरता और बुजदिली की निशानी है। और उसमें भी क्रोधादिभाव के आवेश में मरना तो बालमरण—आत्महत्या है। आत्महत्या का पाप जबर्दस्त होता है। लो मैं तुझे जीवन जीने की कला बताता हूँ।

यह सुनते ही उसने सोचा कि मुझे इस दुनियां में मरने से रोकने वाला कोई नहीं था। मेरे घर वाले भी मेरे मरने की चिन्ता नहीं करते। फिर इस संत ने मेरी चिन्ता की है—क्यों ? तो जो भी हो, इनकी बात सुननी चाहिये। वह संत के पास आकर बैठा। तब संत ने कहा—भाई ! तू मर क्यों रहा है ? उसने कहा—महाराज ! मैं दुःखी हूँ, संसार से तिरस्कृत और समाज से उपेक्षित हूँ। इसलिए सब ओर से तंग आकर मर रहा हूँ।

यह सुनकर संत ने कहा—क्या इस तरह तेरे मरने से दुःख मिट जायेगा ? वह बोला—बात ऐसी है कि यदि जिंदा रहा तो दिन-दिन दुःख देखना पड़ेगा। और मर जाऊँगा तो दुःख नहीं देखूंगा। कहावत है-"आप मरे जग [1]परले" ? यह सुनकर संत हंसे और बोले-नादान ! इस शरीर से तो मर जायेगा और यहां जो घर वालों एवं परिवार वालों की तरफ से तन धन आदि का दुःख है, उससे छूट जाओगे। पर मानलो अगले जन्म में इससे भी अधिक दुःख मिला तो ! उसने कहा—महाराज ! यह तो हाथ की बात नहीं है। इस पर संत बोले—तू मरकर दुःख मिटाना चाहता है। परन्तु याद रख, मरने से दुःख का अन्त नहीं। आत्महत्या से तो दुःख और बढ़ जायेगा।

दुःख का अन्त धर्म से, मृत्यु से नहीं

अधिकता से समाज, परिवार या घर में, पति-पत्नी में, भाई-भाई में, बाप-बेटे में नहीं बनी तो लोग कुंए में पड़कर, जहर खाकर या अन्य प्रकार से आत्मघात करके मरने की बात सोचते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण आज के संसार में देखने और सुनने को मिल जायेंगे। आज का संसार बड़ा विचित्र है। पहले के लोगों में दुःख के बर्दाश्त करने की ताकत होती थी। परन्तु वह बल आज कम हो गया है। सहिष्णुता का माद्दा-सहन-शक्ति कम पड़ गयी है। लड़का परीक्षा में असफल हो गया तो वह किसी को मुंह दिखाने की बनिस्बत मरना अच्छा मानता है। वह यह नहीं जानता कि सफलता के पीछे असफलता भी रहती है। आज बात-बात में, लड़झगड़ कर या जात-

१ प्रलय

पांत से ऊब कर व्यक्ति जीवन का अन्त करने को उतारू हो जाता है, अपनी जीवन लीला को असमय में समाप्त करने पर तुल जाता है।

प्रभु ने कहा—मानव ! मृत्यु से दुःखों का अन्त नहीं, परन्तु धर्म से अन्त होगा। धर्म का साधन, दुःखों को अन्त करने के लिए एक रामबाण दवा है। परन्तु शर्त यह है कि धर्म का आचरण विधि से, प्यार से और सच्चे दिल से हो। यदि इस तरह धर्म का आचरण हुआ तो वह निश्चित रूप से दुःख दूर करेगा। धर्म के आचरण से हजारों लाखों और करोड़ों व्यक्तियों ने सदा-सदा के लिए दुःख से छुटकारा पाया है—मुक्ति पायी है। मैं जिस हरिजन भाई हरिकेशी की कथा कह रहा हूँ; जो कि तिरस्कार से दुःखी होकर मर रहा था, वह भी सब कुछ छोड़कर वीतराग मार्ग का पथिक बन गया और साधु बनकर, साधु जीवन की साधना की—तपस्या की एवं मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवों का भी पूजनीय बन गया।

यह धर्म का एक व्यावहारिक रूप है। यदि धर्म के व्याव-हारिक रूप में, हम पूरा खरापन रख सकें तो हमारा आधा काम हल्का हो जायेगा। वह ऐसे कि जब आप धर्म का व्यावहारिक लाभ, जीवन में देखने लगेंगे और उसको पकड़कर चलने लगेंगे तो आपका परिवार शान्त एवं निश्छल हो जायेगा। परिवार की आपसी लड़ाई मिट जायेगी और फिर आपका धर्ममय जीवन देखकर, दूसरे पड़ोसी भी सोचेंगे कि इनके परिवार में सामायिक करने से झगड़े मिट गए, प्रेम और शान्ति की गंगा बहने लगी। अब हम भी इनके जैसे ही सामायिक करेंगे। तो इस तरह दूसरों में भी देखादेखी धर्म की तरफ श्रद्धा बढ़ेगी, प्रेम बढ़ेगा और समाज में सुख शान्ति की सरिता लहरायेगी।

नैतिक शिक्षा से जीवन सुधार

मैंने एक कथा में पढ़ा था कि एक अमीर घर की लड़की जो आजाद प्रकृति की थी। सतत मां बाप से लड़ती और मन मौजी से जीवन बिताती थी। हारकर माता-पिता ने उसकी भर्ती स्कूल में

करा दी। वहां रहकर वह पढ़ने लगी। स्कूल में कला और साक्षरता का शिक्षण होता था। दूसरी ओर स्कूल की एक पानी पिलाने वाली बाई थी। वह बच्चियों को नैतिक शिक्षा देती थी। वह ज्यादा पढ़ी लिखी तो नहीं थी परन्तु व्यावहारिक अनुभव उसमें अधिक था। जब कोई स्वतन्त्र प्रकृति वाली लड़की उसके पास पानी पीने को आती तो वह बाई उससे कहती कि देखो! तुम अभी पढ़ रही हो। पढ़ाई समाप्त करने के बाद तुम्हें पराये घर में जाना है। वहाँ सबको मित्र बनाकर रखना है। अपने स्वभाव में फूल जैसी मृदुता लाओ और वाणी में ऐसी मिठास रक्खो जिससे कि किसी को कभी अखरो नहीं।

कहावत है कि—"स्वभाव ऐसा बनाओ जो दुश्मन के मन में भी नहीं खटके"। आँखों में काजल की तरह मृदुस्वभावी सब में समा जाता है। काजल की जगह कोई दूसरा रंग होगा तो वह खटकेगा, बुरा लगेगा। वह पानी पिलानेवाली कम पढ़ी लिखी बाई, उस अच्छे घराने की लड़की को भी लोक व्यवहार की अनमोल शिक्षा देती और कहती कि तुम जहाँ भी रहो, किसी को नहीं खटकना। तुम कहती हो कि मुझ से माँ-बाप, भाई आदि नहीं बोलते, लड़ाई करते झगड़ते हैं। तो इन बातों में तुम अपने हित की बात सोचो। कारण बड़ों की बात के पीछे अपना हित छिपा रहता है।

प्राचीन कहावत है कि—

"दुर्जन की कृपा बुरी-भली सज्जन की त्रास।
जब सूरज गर्मी करे, तब वर्षण की आस।।"

इस प्रकार पानी पिलानेवाली उसको समझाती कि हितैषी लोगों की कड़वी बात भी, दवा की तरह हितकारी होती है। फिर कोई स्वभाव के कारण कुछ कहदे तो सोचना कि—

जापे जैसी वस्तु है—तैसी ते दिखलाय।
बाका बुरा न मानिए, वो लेन कहां से जाय।।

तू यदि शराब की दुकान पर जायेगी तो वह कलाल तुझे क्या माल बतलायेगा ? और बजाज के यहाँ पहुँचो तो वह कपड़े ही बतायेगा। परन्तु घूमते-घूमते यदि तू किसी मोची की दुकान पर पहुंच गई तो वह तुझे क्या बतायेगा ? क्या वह तुझे अच्छे-अच्छे ढ़ंग का आभूषण बतायेगा ? नहीं, वह तो तुझे जूते ही बतायेगा। इस प्रकार जिसका जैसा स्वभाव है, उसके अनुकूल वह कुछ कहे तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिये।

धर्म नहीं तो कुछ नहीं

देखिए ! संसार की यह बड़ी भ्रान्ति है कि लोग मानते हैं— धन होगा तो सुखी होंगे, बच्चे होंगे तो आराम पायेंगे, पत्नी होगी तो प्यार मिलेगा। यदि आपकी मनपसन्द ये सब बातें पूरी हों और धर्म नहीं तो सच मानिये कुछ नहीं है। धन है, पत्नी है, बच्चे हैं, परन्तु धन का उपयोग नहीं है, बच्चे में विनय नहीं और स्त्री में सहिष्णुता नहीं एवं नौकर में ईमानदारी नहीं है तथा भाई में सरलता—निष्कपटता नहीं है, तो वहाँ धन एवं सुख का साम्राज्य नहीं टिक सकता है। भाई से भाई यदि कपट रखता है तो लाखों की पूँजी होते हुए भी धर्म भावना के अभाव में पारिवारिक शान्ति नहीं रहेगी।

दूसरी ओर किसी के पास में धन गहरा नहीं है, फिर भी धर्म है तो वह उससे परिवार में सुख की वृद्धि कर सकता है। एक धर्मी पिता, पुत्र के प्रति अपना दायित्व समझता है और अपने बाद उसी को धन-सम्पत्ति का मालिक मानता है। पुत्र भी पिता को उपकारी और अपना पालन-पोषण एवं योग्य करनेवाला समझकर, सरल मन से उनकी सेवा को स्वकर्तव्य मानकर चलता है। ऐसे ही धार्मिक भावना वाला भाई तो भाई के प्रति सोचेगा कि यह तो भाई है। भाई ने मुझे कुछ कह दिया तो क्या ? वह मेरा हितचिन्तक है। इसने ज्यादा खालिया, पी लिया खर्च कर दिया तो क्या ? क्योंकि भाई आखिर भाई है। मारवाड़ी कहावत है—

"भाई का माल, भाई खासी।
और खासी तो एलो जासी।"

इस प्रकार यदि हृदय में धर्म शिक्षा है तो भाई-भाई कभी आपस में नहीं लड़ेंगे। वे एक दूसरे को भाई समझकर कभी ऐसा प्रश्न ही नहीं उठायेंगे, जिससे कि परस्पर में कलह-कोलाहल बढ़े। ऐसा करने में धर्म-भाव उन्हें रोकेगा—मजबूर करेगा। और अगर धन है पर धर्म नहीं है तो एक लखपति भाई भी अपने छोटे भाई को अपनी कमाई के बारे में सच-सच नहीं बतायेगा। क्योंकि उसमें धर्म-भावना नहीं है। उसके मन में सरलता के बजाए कपट है, छल है और द्वेष है। फिर ऐसा परिवार महाभारत का अखाड़ा क्यों नहीं बनेगा ? भाई-भाई के सिर क्यों नहीं फूटेंगे ? इस तरह यह सत्य है कि धर्म नहीं तो कुछ भी नहीं है, सुख और शान्ति नहीं है। धर्म-भावना के अभाव में ही तो दुर्योधन ने धर्मराज के साथ समझौता न कर युद्ध करना ठाना। कौरवों के धर्म शून्य संस्कारों ने कुल का सत्यानाश करवा दिया, पांडवों को संयुक्त अधिकार में भी शान्ति और सुख तथा कौरव पृथक् भोग-सामग्री पाकर भी अशान्त क्यों ? यह धर्म के सद्भाव और अभाव का ही परिणाम है।

विश्वभूति का जीवन

अच्छा ! तो अब मैं आपके समक्ष भ० महावीर के पूर्वजन्म की थोड़ी-सी बात कह डालूँ। जैसा कि—

"राजगृही सोलहवेंभव में, नृपकुल आते हैं।
विश्वभूति युवराज तनय, सब जन हर्षाते हैं॥
तरुण अवस्था में तरुणी संग, मौज मनाते हैं।
राजपुत्र सुनकर मन में, अति खेद बढ़ाते हैं॥" शासन

....सोलहवें भव में भगवान् महावीर का जीव राजा के कुल में जन्मा है। राजगृही नगरी में विशाखानन्दी राजा के लघु भाई जो युवराज थे, उनके पुत्र होकर विश्वभूति के नाम से प्रसिद्ध हुए। जन्म पाया राजकुल में परन्तु राजा दूसरा है, जिसके पुत्र का

नाम विशाखभूति था। युवराज के पुत्र होने से आपको राज्य मिलने का प्रश्न ही नहीं रहा। किन्तु उनमें धर्म के कुछ संस्कार थे। खाने-पीने की कोई कमी नहीं थी। माँ-बाप के प्यार की भी कोई कमी नहीं थी। पढ़-लिख गया, शादी हुई—सम्बन्ध हुआ। अब परिवार में तरुणी स्त्रियों को लेकर रहने से संघर्ष का कारण समझ, विश्वभूति ने पुष्पक नाम के बगीचे में रहने का विचार किया तथा वहीं जाकर रहने लगे।

वहाँ उनको कोई चिन्ता-फिक्र नहीं थी। क्योंकि आवश्यकता की कमी में चिन्ता जगती है। और जहाँ किसी तरह की कमी नहीं, वहाँ फिक्र कैसी ? विश्वभूति स्वर्गोपम उस उद्यान में आनन्द से रहने लगे और विविध क्रीड़ाओं के संग जीवन बिताने लगे। परन्तु ईर्ष्यालु और विद्वेषीजन पर सुख देखकर भी जल उठता एवं सुखी के लिए दुश्चिन्तन करने लगता है। धर्मी, पर सुख को देखकर हर्षित होता तथा मंगल चिन्तन करता है।

एक समय उद्यान में राजा की कुछ दासियाँ आयीं और देखा कि युवराज का पुत्र विश्वभूति बड़े मौज से यहाँ आराम करता और क्रीड़ा में समय बिताता है। यह तो हौज में अपनी तरुणी नारियों के संग फाग खेल रहा है। परन्तु हमारे राजाजी के कुँवर साहब तो झिक-झिक करते हैं। राजमहल में कैदी की तरह जिन्दगी घुट-घुट कर गुजार रहे हैं। दासियों ने महल में पहुँचकर महाराज कुमार के सामने बगीचे में देखीं—बातें प्रगट कर दीं और बोली—महाराज कुमार ! आप तो राजा के नाम के पाटवी पुत्र हैं। आपको तो कोई सुख नहीं है। आनन्द तो विश्वभूति मना रहे हैं। उनको कोई फिक्र-चिन्ता नहीं है। बगीचे की स्वच्छ आबोहवा में सुख का जीवन जीते हैं, मौज की जिन्दगी बिताते हैं। आप महल में तो रहते हैं किन्तु गलियों के तंग वातावरण से होकर गुजरते हैं। अजमेर की इस लाखन कोठड़ी में बड़ी-बड़ी हवेलियाँ हैं, परन्तु जाना तो इन्हीं गन्दी गलियों में से होता है।

दासियों के मुँह से ऐसा विषम वर्णन सुनकर, करोड़ों की सम्पदा एवं रथ हाथी घोड़ेवाले भी उस राजपुत्र के मन में, विश्वभूति के प्रति द्वेष और दुःख भर आया। उसने कहा—जब तक मुझे वह बगीचा नहीं मिले और विश्वभूति उसमें से निकल नहीं जाये, तब तक मेरा खाना-पीना यहाँ तक कि जीना भी बेकार है।

सब तरह की सुख-सुविधा होने पर भी उस राजपुत्र के मन में ऐसे दुर्भाव क्यों उत्पन्न हो गए ? तो उत्तर स्पष्ट है कि उसमें धर्म के संस्कार नहीं थे। धर्म, शान्ति, दया, क्षमा और आर्द्रभाव सिखाता है, जो कि विश्वभूति में थे। धर्म का यह आनन्दी भाव कैसे बनाये रखना और बढ़ाना यह विश्वभूति को संत के रूप में नहीं मिले। किन्तु धार्मिक संस्कार से प्राप्त हुए। धर्म के संस्कार के कारण उनके मन में यह बात रही कि राजा अपने लड़के को राज्य देगा, फिर भी मेरे पिता के बड़े भाई होने के नाते, महाराज विशाखनन्दी हमारे सब कुछ हैं। मुझे उनकी सेवा और आज्ञा का पालन करना एवं उनके मन को प्रसन्न रखना चाहिये।

आज्ञा पालन धर्म का प्रथम चरण

धर्म का पहला रूप है आज्ञा का पालन। सामायिक वाद में है। आपका लड़का सामायिक में आता है, गुरुदर्शन या देवदर्शन को जाता है, परन्तु यदि उसमें आज्ञा पालन का धर्म नहीं है तो उसकी सामायिक क्या लाभ देगी ? धर्म का प्रारम्भ आज्ञापालन से ही होता है। यदि कोई कुटुम्ब में है, परिवार में है, शासन में है, गच्छ में है तो पहले उसमें बड़ों की आज्ञा पालन का गुण होना चाहिये। विश्व-भूति में ये गुण होने से वह शान्ति पूर्वक जंगल में भी मंगल मनाता रहा। अपने पीछे षड्यन्त्र की खबर भी उसने नहीं पायी।

राजा के पास जब अपने पुत्र की चिन्ता की बात पहुँची तो राजा ने पुत्र को कहा—तुम्हें घबराने की बात नहीं है। यदि वन-विहार की इच्छा है तो मैं ऐसी व्यवस्था कर दूँगा। तू मन में खेद

मत कर। विशाखभूति और विश्वभूति कौन है ? दोनों भाई तो हैं। इस तरह राजा ने उसके मन को शान्त कर दिया। परन्तु धर्म संस्कार के अभाव में अपेक्षित शान्ति नहीं आयी। हार कर राजा को उसे वचन देना पड़ा कि मैं बगीचे को जल्द से जल्द तुम्हारे लिए खाली कराकर दिला दूंगा। भविष्य में राजा को इसके लिए छल, बल एवं अन्याय का आश्रय लेना पड़ा, जो आगे ज्ञात होगा।

यदि जीवन में धर्म रहता है तो ऐसी बातों की कोई जरूरत नहीं रहती। आप सबको वीतराग धर्म मिला है, सत्संग मिला है। संत समागम का सुअवसर मिलता रहता है। तो सोचिए, धर्म से नकद लाभ मिलता है या उधार का ? चाहे धर्म-तप का, शील का सदाचार का हो, परन्तु उसका लाभ पहले नगद है। इस रूप में यदि आप धर्म को ग्रहण कर उसका पालन करेंगे तो आपके जीवन में शान्ति एवं कल्याण प्राप्त होगा। धर्म का एक लघुरूप ग्रहण करने वाले तपस्वी भाई के तप बत्तीस की आज पूर्ति है। उसमें आप भी यथा शक्य धार्मिक सहयोग देंगे तो आपको भी लाभ होगा। इस अवसर पर यदि दुर्व्यसनों को घटायेंगे तो यह भी तप की पूर्ति में बड़ा सहयोग होगा। जीवन को निर्मल बनाइए और पाप के पंक में से गुण का धर्म का कमल विकसित कर स्वपर का कल्याण कीजिए यही आनन्द का प्रशस्त मार्ग है।

७

आत्मोत्थान

अनुकूल निमित्त से उत्थान

वन्धुओ ! सुख विपाक सूत्र के रूप में अभी आपके सामने वीतराग-वाणी का प्रवचन चल रहा है। वीतराग-वाणी का श्रवण कर अनेक महापुरुषों ने अपने को जगाया, कल्याण किया और जीवन को सार्थक किया। यह निमित्त का परिणाम बताया गया है। वाणी निमित्त है और आत्म-जागरण निज पुरुषार्थ का फल है। साधक चाहे छोटा हो या बड़ा, यदि पुरुषार्थी है तो अनुकूल निमित्त पाकर वह ऊपर आ जाता है और लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

बीज चाहे जिस किसी आकार या रूप का हो, अगर सजीव है तो वह चिरकाल तक मिट्टी के नीचे दबा नहीं रहेगा। उसे ज्यों ही अनुकूल मिट्टी और सिंचाई पानी का सहयोग मिला, वातावरण अनुकूल रहा तो वह अंकुर रूप में फूटकर ऊपर आ जाता है। आप बीज को भूमि में डालकर उपजाने का काम नहीं करते हैं, फिर भी आपको इतना जरूर ख्याल होगा कि सूखी मिट्टी में डाला हुआ दाना ऊपर नहीं आता है। वर्षा के मौसम में, बीसों प्रकार के घास बिना बीज डाले ही जंगल में तैयार हो जाते हैं। उनके बीज कब किस किसान ने डाले ? जो पहले सूखा मैदान पड़ा था, वर्षा में हरा-भरा हो गया, दूबों से भरकर सरसब्ज बन गया। सूखे घासों में भी एक नयी जान आ गयी और वे जमीन छोड़कर सिर उठा के खड़े हो गए। कितना बड़ा यह परिवर्तन है ? प्रकृति की यह कैसी अद्भुत लीला है।

मैं पूछूं कि उस घास के बीज का सद्भाव वर्षा के पहले मिट्टी में था या नहीं ? अगर था तो वे मिट्टी के भीतर कब और कैसे आए ? खेतों में बाजरी के, मक्का के, मूंग और उड़द के बीज तो

समय पर किसान द्वारा डाले जाते हैं। मगर घास के बीज तो पहले भी जमीन में थे और हैं भी। परन्तु वे चैत्र-वैशाख और ज्येष्ठ में ऊपर नहीं आए। लेकिन जरा वर्षा की एक धारा पहुँची, मिट्टी में आर्द्रता हुई, नमी आयी कि बीज मिट्टी को फोड़कर ऊपर आ गए। वह सूखे काल में अथवा कि धूल में रहा हुआ ऊपर आना चाहे तो नहीं आ सकता। वर्षा के जल ने सख्त मिट्टी को मुलायम कर, सोए हुए बीज को, गीला किया, तर किया और जगा दिया। जिससे बीज फूल गया। जिसमें से अंकुर निकल आया। जल से मिट्टी और बीज की सख्ती मिटते ही, कोमलता आयी और ताकत बढ़ गयी। फिर कोमल होकर वह ऊपर आ सका। बीज है, अनुकूल निमित्त मिला तो वह दबा नहीं रहा और अपनी सामर्थ्य दिखाने के लिए ऊपर आ गया।

सजीव बीज ही अंकुरित होते हैं

सोचने की बात है कि हमारे अन्दर में बीज है या नहीं है ? यदि है तो वह ऊपर क्यों नहीं आता ? सोना-चाँदी का मोह है, बच्चों का मोह है, कोठी बँगले का मोह है। ये सब मोहरूपी मलबे मन के ऊपर पड़े हैं। वह मोह के मलबे में दबी हुई आत्मा की शक्ति बीज की तरह अंकुरित होकर ऊपर नहीं आ रही है। एक छोटा सा-नन्हा सा बाजरी का बीज, मिट्टी की सतह को भेदकर ऊपर आ गया। बाजरी का दाना नन्हा सा है। उसकी क्या ताकत, क्या सामर्थ्य कि वह इतनी मिट्टी के दल को भेदकर ऊपर आए ? परन्तु वह सजीव है, जिन्दा है, सचेतन है कि यथा अवसर पानी की सहायता मिल गयी, जिससे वह ऊपर आ गया।

आपको खेतों में जाने का काम नहीं पड़ा होगा। किसान जब हल चलाता है तो फाल बीत आधा बीत नीचे चला जाता है और उसी अनुपात में बीज को भी नीचे जाना पड़ता है। मगर इतने नीचे से भी वह ऊपर निकल आता है। तो बीज में ताकत ज्यादा है या आप में ज्यादा ताकत है। यदि खेल-खेल में कोई बच्चा अपने साथी

बच्चे पर, बालू के दो-चार पांच-दस धोवे डाल दें बालू के टीवे में तो क्या वह ढ़ंका रहेगा ? नहीं रहेगा। वह जोर लगायेगा और ऊपर आ जायेगा। क्योंकि उसमें चेतना है—वह सचेतन है, इसलिए ऊपर आ जाता है। तो यह छोटी सी नजीर रही भौतिक ग्रावरण की—बाहर के दल की।

गहरे दबाव में बीज भी नहीं उगते

दबानेवाले चंद बाहर के दल भी होते हैं और भीतर के भी। बाहर के दबानेवाले आवरण हैं धन के, जन के, कुटुम्ब के, परिवार के, कोठी के, बंगले के। ये सबके सब आवरण आत्मा में अंकुरित होने की जो शक्ति है, उसको दबानेवाले कचरे हैं, मलवे हैं। परन्तु इन कचरों के नीचे भी ज्ञानी आत्मा देर तक दबी नहीं रहती है। जैसे सचेतन बीज मिट्टी के नीचे अधिक देर तक दबकर नहीं रहता, ऐसे ज्ञानात्मा भी इन पुदगलों के कचरे के ढ़ेर के नीचे दबकर नहीं रहती है। वह इनको बींधकर, छेदकर, ऊपर आ जाती है। इसके लिए संतों की, शास्त्रों की, वाणी वही काम करती है, जो वर्षा बीज के लिए करती है। वर्षा की तरह शास्त्र को, संतों की वाणी आत्मा को ताकत देती और ऊपर खींचकर ले ग्राती है। जब सोया मन जग जाता है तो उसमें स्फुरणा होती है, चिन्तन होता है—ऐ मानव ! तूने मनुष्य का जीवन पाकर घड़ियों की घड़ियें, दिनों के दिन और महीनों के महीने व्यर्थ गंवा दिये। इससे तेरी आत्मा भारी हो रही है, संसार बढ़ रहा है। जरा सावधानी से अपने स्वरूप का विचार कर। शास्त्रकारों ने मानव मन के इस ज्ञान भाव के जगाने में, सत्संग का निमित्त बताया है। अभी जिनदास आदि सुख विपाक सूत्र के पात्रों का वर्णन श्रवण कर चुके हैं। वे सारे पात्र यही बता रहे हैं कि वीतराग-वाणी के द्वारा, उनके अन्तर में सोयी आत्म शक्ति थी, वह जग गयी। क्योंकि यदि बीज बीज रूप में है तो ग्रनुकूल निमित्त से वह जरूर ग्रंकुरित होगा, अंकुर फूटेगा। और यदि बीज बीज नहीं है अथवा बहुत गहरा दलदल में दब गया है, दो चार-दस हाथ दबा दिया है तो इन दो कारणों से वह ऊपर नहीं आ सकता। ऐसे

ही जो प्राणी पंचेन्द्रिय होकर भी असंज्ञी हैं, अभव्य हैं, कर्म के प्रबल दल में दबा है, वही ऊपर नहीं आता है। अभव्य को साक्षात् तीर्थंकर के पास भी पहुँचा दो, केवली के पास पहुँचा दो, महान् दर्दवाले, पराये दुःख से दुःखी किसी संत के पास पहुँचा दो और ऊँचे से ऊँचे उपदेश देकर, उसको जागृत करने का प्रयत्न करो तो भी उस अभव्यात्मा में ज्ञान का अंकुर नहीं फूटेगा। क्योंकि उसकी आत्मा, उसकी चेतना की शक्ति का बीज, कर्मों के आवरण से बहुत नीचे तक दबा हुआ है।

भव्य भी सभी नहीं जगते

अब अभव्य से आगे बढ़िए, भव्य प्राणी भी सब जागृत नहीं होते हैं। खासकर जिनमें निकट भव्यता नहीं होती। भव्य होकर भी एक निकट भव्य और दूसरे दुर्भव्य होते। दुर्भव्य के कर्मों का आवरण इतना गहरा होता है कि वे अभव्य के समकक्ष होते। वीतराग-वाणी की शीतल जलधारा, उनके अन्तर में पहुंच नहीं पाती। राग रोष की गूढ़ ग्रन्थि उनको कायम रहती है, जिससे सद्-दर्शन का अंकुर फूट नहीं पाता।

हमको सोचना है कि क्या हम अभव्य की श्रेणी में हैं या दुर्भव्य होना चाहते हैं? निकट भव्य हो सकते, पर क्या यह भी होना नहीं चाहते? निकट भव्य में धर्म श्रवण की प्रबल इच्छा और पाप भीरुता चाहिये एतदर्थ सत्संग में बैठकर ज्ञान मिलाने की अभिरुचि होनी अत्यावश्यक है। यदि ज्ञान मिलाने की इच्छा और जीवन सुधारने की भावना से आए हो तो चिन्तन करो कि हमको अपने जीवन के अमूल्य क्षणों का कैसे सदुपयोग करना है? जीवन को सफल बनाने के लिए क्या करना है? इस पर गहराई से विचार करो। जब छोटा सा बाजरी का दाना, मिट्टी की तह को भेदकर ऊपर आ सकता है, तब आप तो मानव हैं! आपने कर्मों के इतने दलों को काट दिए—एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तथा असंज्ञी जिसमें बिना मन के रहते थे, वे सारे के सारे दल काट दिए। और

मन वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय बन गए। अब इतना ऊपर उठकर क्यों रुकते हो ?

समनस्क और अमनस्क

मन वाले प्राणी कौन कहलाते हैं ? समनस्क वही है जो बुरे भले को—हिताहित को और वर्तमान एवं भविष्य के परिणाम को सोचकर चले। और जो परिणाम को नहीं सोच पाए, वह अमनस्क है, असंज्ञी है। वह जीव होकर भी उपयोग करने वाला, विवेक बुद्धि से काम लेने वाला, नहीं समझा जाता।

बहुत बार सुना है कि वानर जाति का पशु कहीं अपने में से किसी एक के मारे जाने की घटना देख ले तो सभी वानर, उस स्थान को छोड़कर चले जाते हैं। जहां मरा हुआ वानर पड़ा है, वहां दूसरे वानरों को दाना दिया जाय, जलेबी पूड़ी डाले जांय या विविध खाद्य वस्तुओं से ललचाये जांय, परन्तु वे लालच में नहीं आयेंगे। ऐसा क्यों ? कारण वे समनस्क हैं, मन वाले हैं, अतः परिणाम सोचते हैं। दूसरी ओर जल में रहने वाली मछली, मन रखते हुए भी जागृति और चिन्तन शक्ति के अभाव में, ठगी जाकर जाल में मछुओं के द्वारा फंसा ली जाती है और मार डाली जाती है। मछलियों को बारम्बार फंसकर भी दुबारा फँसने का ध्यान नहीं आता। मगर बन्दर सहसा एक बार धोखा खाकर दुबारा नहीं फंसता।

आप कौए को देख लो ! जब कभी कौआ लोगों को ज्यादा त्रास—दुःख देता है। औरतें गोबर थापती हैं, कौए वहां जाकर उसे कुरेद देते हैं—बिखेर देते हैं, तो उससे शान्ति पाने के लिए किसी ने एक कौए को वहां मारकर ऊपर में लटका दिया। अब एक भी कौआ वहां नहीं आता। क्योंकि वह समनस्क है। एक कौआ मरा हुआ लटक रहा है तो दूसरे दूर-दूर से चिल्लायेंगे, मगर मरे हुए के पास नहीं जाएंगे। वे समझते हैं कि इस जगह पर खतरा है।

परन्तु हम मानव बड़े हौसलेदार हैं, हिम्मत वाले हैं कि भय की विनाश लीला देखकर भी उससे नहीं घबराते। प्रत्युत प्रतिदिन उसमें अपनी दिलचस्पी और अभिरुचि अधिकाधिक बढ़ा रहे हैं। एक भाई ने शराब के ठेके पर शराब पीने की आदत लगाकर घर बर्बाद कर लिया। मगर दूसरे उससे सबक नहीं सीखकर, उल्टे उधर ही जोर लगाते देखे जाते हैं। ऐसे ही जूए एवं वेश्यागमन के पीछे किसी ने अपना सब कुछ नष्ट कर लिया। यहाँ तक कि रहने का मकान भी नहीं बचा पाया। बाल-बच्चे भूखे मर रहे हैं। बड़ी परेशानी और मुसीबत का सामना कर रहा है। फिर भी दूसरे उसी के रास्ते चलते और बहुत ही झूमझूम कर चलते हैं, इन गलत आदतों में, बुरी कुटेवों में।

एक मरे हुए कौवे को देखकर कौए तो उस स्थान को छोड़कर भाग जाते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि यहां हमारे भाई की—बन्धु की—हत्या हुई है। तो कहीं हमारी भी वही दशा न हो जाये! परन्तु मानव इतनी बुद्धि पाकर भी, हिताहित को जानते हुए भी, वही काम करता है, दुर्व्यसनों को नहीं छोड़ता और बर्बादी के कगार पर खड़ा हो जाता है एवं बुद्धि को, विवेक को, ऊँची सूझ-बूझ को, अज्ञानता के, नासमझी के आवरण से ढ़क लेता है। कारण मनुष्य को बुद्धि का अहंकार हो गया है। वह सोचता है कि मेरे पर कोई बुराई क्या असर करेगी ?। उसका अन्तर्मन अहित में हित देखता है। अतः वह भव्यता के निकट नहीं पहुँचता और भव्यता के समीप पहुँचे बिना कल्याण और शान्ति की उपलब्धि भी नहीं कर सकता।

जिनदास एक बार में ही प्रभु की वाणी को सुनकर जग गया। अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की परख में निपुण-पारखी बन गया। दुर्लभ नरभव को ऊंचा कैसे उठाया जाय तथा अपने को मोक्ष पद पर कैसे बैठाया जाय, इस बात को अच्छी तरह समझ गया।

अहंभाव गले बिना विकास नहीं

मैंने कहा कि मिट्टी में जल की धारा पाकर, जब तक बीज नहीं गलता, कोमल नहीं होता, तब तक उसमें से अंकुर नहीं फूटता—विकास का आरंभ नहीं होता। जब बीज गलेगा, तभी उसमें से अंकुर फूटेगा। बीज की तरह आप में भी ज्ञान वैराग्य का अंकुर तभी प्रस्फुटित होगा, जबकि आपके अन्तर का अहं गलेगा—मद द्रवित होगा। हुकूमत का अहं, पण्डिताई का अहं, जातिकुल का अहं, रूप और गुण का अहंरूप जो उन्माद है, आवरण है, वह जब तक अच्छी तरह से दूर नहीं हो जायेगा, नम्रता एवं विनय का उदय नहीं हो जायेगा, तब तक ज्ञान का, प्रकाश का, वास्तविक अंकुर नहीं निकलेगा।

अहंकार ज्ञान-अंकुर निकलने में बाधक तत्व है। वह उसे प्रकटित नहीं होने देता। धर्म-साधना या जीवन उत्थान की कोई भी साधना हो, वह अहंकार से सफल नहीं हो पाती। ज्ञान की ज्योति इसके चलते जगमगा नहीं पाती। वह भाग्यशाली प्राणी है, जिसका मन निर्मल हो गया है, अहं का दलदल-कीचड़ धुल गया है। वीत-राग-वाणी का प्रभाव, जिसको प्रभावित कर दिया है, निश्चय उस आत्मा का ज्ञानांकुर प्रकट होना कठिन नहीं होगा। कठिनाई तो बस यही है कि अहंगले और अन्तर में मार्दव भाव प्रगट होकर चेतना जागृत हो जावे।

ज्ञानाकुंर यदि फूटता है तो हम देखते हैं, कि जो संसार के बड़े-बड़े भौतिक प्रपंचों से दबे हुए थे। जिनके पास अमर्यादित परिग्रहों का दलदल जमा था। कषायों की तीव्रता से जीवन अस्त-व्यस्त और परेशान था। चाहकर भी जो सच्ची शान्ति पाने में असमर्थ थे, मजबूर थे। उनके अन्तर में भी ज्ञान की ज्योति जागृत हो गयी और शुभ-भावों का प्रकाश सब ओर फैल गया तथा ऐसा चिन्तन चला कि जीवन की दिशा ही बदल गयी एवं दशा दिव्यतम बन गयी।

सेवा और श्रीकृष्ण

भारतीय इतिहास में श्रीकृष्ण अनजान और अज्ञात नहीं हैं। अन्तगड़दशासूत्र में आप सुन चुके हैं कि जब श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से अपने श्रमणत्व—साधुता के लिए प्रश्न किया, जिज्ञासा की तो मालूम हुआ कि तुम श्रमण धर्म स्वीकार नहीं कर सकते—श्रमण पद से अपने को अलंकृत नहीं कर सकते। भगवान् के मुखारविन्द से यह खरी और सच्ची बात सुनकर श्रीकृष्ण को बहुत अन्तर्दुःख हुआ। उन्होंने सोचा कि मैं साधना पथ में इतनी कम योग्यतावाला हूं। जालिकुमार, प्रद्युम्नकुमार आदि मेरे बच्चे, समय पर जग गये और साधना में लग गये। बच्चों के जगने पर भी मैं पीछे रह गया। इसका उन्हें बहुत अफसोस हुआ—दुःख हुआ।

कई लोग मन में भावना नहीं होते हुए भी, बाहर से अपने भावों को ऐसे प्रगट करते हैं, कि सचमुच में उनकी भावना में कोई दर्द हो। जैसे किसी गाँव में एक बुढ़िया रहती थी। वह घर में बच्चों के भूखे होते हुए भी, आदत वश नाश्ता चबा रही थी। खाते-खाते उसके मन में आया कि देखनेवाले क्या कहेंगे कि बुढ़िया खा रही है और भूखे बच्चे एकटक उसको देख रहे हैं। इसे जरा भी शर्म और होश नहीं है। इस लोकापवाद से बचने के लिए वह खाती हुई स्वयं बोलती जाती कि झाड़ू मारे इस जीभ को। अरे! बच्चे भूखे हैं और यह खा रही है। बीच-बीच में वह धिक्कार भी करे और खाती भी जाये। तो ऐसे भी कई माई के लाल मिलते हैं जो बोलते कुछ और करते कुछ और हैं।

कोई तपस्विनी बाई तपस्या कर रही है और घरवाले खा रहे हैं तथा बाहर घूमने को भी तैयार हैं। किसी ने इस पर कुछ कहा तो कहते हैं कि मेरी आत्मा को धिक्कार है, जो ऐसे सुन्दर तप के मौके पर ऐसा कर रहा हूं। तो भाई! यह धिक्कार कैसा? क्या यह बोलने की एक शैली है या इसका कुछ अर्थ और भाव भी होता है? एक बार भी धिक्कार शब्द मन से निकले तो फिर वैसी प्रवृत्ति

करने में संकोच होगा। परन्तु केवल हँसी के रूप में, धिक्कार शब्द निकालना और उसी में अपना संतोष मान लेना। कोई कहे कि हमसे संवर, सामायिक, स्वाध्याय, व्रत-नियम आदि कुछ नहीं होता। धिक्कार है मेरी आत्मा को। इस प्रकार अपने आपको धिक्कारते जाना और मन माना करते जाना इसका क्या मायना—क्या अर्थ है ?

श्रीकृष्ण को जब ऐसा मालूम हुआ कि वे श्रमण धर्म की शृंखला में नहीं आ सकते और व्रत-नियम भी धारण नहीं कर सकते तो भगवान् के मुँह से अपनी असमर्थता की बात सुनकर उनके मन को बड़ी ठेस लगी। उन्होंने सोचा कि यदि श्रामण्य-धारण नहीं कर सकूँ और न व्रत-नियम ही पाल पाऊँ, तो भी जीवन सुधार के लिए, धर्म प्रचार जैसा कुछ न कुछ सत्कर्म तो जरूर करना चाहिये। करुणानिधि भगवान् ने कहा कि धर्म करने के तीन रास्ते हैं—करना, कराना और अनुमोदन करना। शास्त्र की भाषा में जिसे करण कहते हैं।

करण तीन प्रकार के होते हैं—स्वयं करना, दूसरे से करवाना और करनेवाले का अनुमोदन करना। जैसे किसी के यहाँ पर घर में अधिक संख्या में मेहमान आ जाय तो कोई भी गृह-स्वामिनी स्वयं रसोई बनाकर सबको नहीं खिला सकती। इसके लिए उसको दूसरे का सहयोग लेना पड़ेगा। सहयोग से समय पर काम हो जाता है। नहीं तो समय भी अधिक लगता, कुछ न कुछ त्रुटि भी रह जाती। इसी प्रकार त्रिविध योग से धर्म में शक्ति लगाई जाय तो परिणाम अच्छा निकल सकता है।

यदि धर्म में समय नहीं लगाया गया तो पाप में तो शक्ति स्वयं लगती रहेगी। चाहते हुए भी प्रवृत्ति होती और नहीं चाहते हुए भी। इस तरह पापों में समय और शक्ति के लगने से नित्य कर्म बंधते हैं। कौन ऐसा भाई है जो रविवार के छुट्टीवाले दिन में घर पर चुपचाप बैठा रहता हो। निश्चय वह वहाँ कुछ न कुछ बोलेगा,

हाथ पैर हिलायेगा, कुछ सोचेगा – समझेगा, खाएगा, पिएगा, घूमेगा और भी चाहे जो कुछ करेगा। इस प्रकार उसके ये चौबीस घंटे विषय-कषाय में गए। यदि वह सोचे कि नौकरी पर होता तो दस ग्यारह बजे जाता और पाँच बजे वहाँ से वापिस छूटता। तो नौकरी से बचे इस समय का मुझे सदुपयोग करना चाहिये।

अगर आपको अवकाश के दिनों में भी लोक व्यवहार करने को मिहनत करनी पड़ती है, तो क्यों नहीं धर्म कार्य में, बुद्धि का उपयोग करें ? अपनी साधना के लिए, समाज सेवा के लिए, शासन-सेवा के लिए इस अवकाश के दिन को, सार्थक बनाया जाये। संसार में सिर पर जैसे माँ-बाप का ऋण होता है, वैसे ही धर्मदेव व गुरु का भी प्रत्येक मानव पर कर्जा होता है। हमने जो थोड़े बहुत पवित्र संस्कार प्राप्त किये हैं, सभ्य मानव की भूमिका पायी है, इनमें धर्म गुरुओं का और शासन देव तीर्थंकर भगवान् का, हमारे ऊपर महान् उपकार है। लाखों की संख्या में जैन लोग, बहुत से मोटे पापों से बचे हुए हैं। चोरी, हत्या, अभक्ष्य भक्षण जैसी बुरी आदतों से बाल्य-काल से बचे रहना, यह गुरुओं का उपकार है। तो फिर गुरुभक्ति में, शासन सेवा में यदि कुछ समय नहीं दें, धर्म की रक्षा एवं वृद्धि में योगदान नहीं करें तो देवगुरु के ऋण से मुक्ति मिल सकेगी ? छुट-कारा मिल पायेगा ? नहीं।

कृष्ण ने सोचा कि मैं स्वयं व्रतधारण नहीं कर सकता—नियम नहीं पाल सकता तो क्या सेवा भी नही कर सकता हूँ ? क्या धर्माचरण के लिए प्रेरणा भी नहीं दे सकता ? या बुरे काम करनेवालों को रोक भी नहीं सकता हूँ ? सेवा का क्षेत्र विस्तृत है और मेरी शक्ति भी बड़ी है—विस्तृत है। मेरे हाथ भी लम्बे हैं और वाणी भी दूर तक फैलनेवाली है, क्यों न इनसे अनुकूल कार्य की साधना की जाये ? श्रीकृष्ण ने नशाबंदी कर यादवों को दुर्व्यसन से बचाया। हजारों को त्याग मार्ग में प्रेरित कर सहयोग दिया। त्याग मार्ग में लगनेवालों की प्रशंसा की—प्रोत्साहित कर महान् धर्म लाभ प्राप्त कर लिया।

आज मुहल्ले में कई लोग स्वयं भी ताश, चौपड़ एवं शतरंज खेलने में लगे हैं तथा बच्चों को भी खेलने के लिए प्रेरित करते हैं। ऐसे ही गेंद तथा दूसरे-दूसरे खेलों में भी स्वयं प्रवृत्त होकर, दूसरों की भी प्रवृत्ति बढ़ाकर, उन्हें कर्म बँध के काम में लगाते हैं। इसके लिए उन्हें धर्म कार्य में लगायें तो कितना अच्छा हो ! उनमें सुसंस्कार पड़ेंगे और स्वपर का कल्याण होगा।

जीवन और प्रमाद

अरे ! आदमी का समय यों ही, व्यर्थ के काम में चला जा रहा है। प्रभु ने कहा—"उट्ठिए नो पमायए।" मानवो ! उठो, प्रमाद मत करो। तुम समनस्क होकर, थोड़ा-सा चिन्तन पाकर जरा उठे हो तो अब प्रमाद त्याग दो। यदि प्रमाद करोगे तो पिछड़ जाओगे। बड़ी-बड़ी शक्तियाँ मनसूबे बाँधती रह गयीं, मगर प्रमाद के चलते, उनसे कुछ भी नहीं हो पाया। वे जहाँ थीं, उनसे भी बहुत पीछे आ गयीं। तो भला ! साधारण शक्ति और बुद्धिवाले तुम प्रमादी बनोगे तो तुम्हारा क्या होगा ? किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"कहां वे राम और लक्ष्मण, कहां रावण से बलधारी।
कहां हनुमान से योद्धा, पता जिनके न था बल का ॥
मुसाफिर ! क्यों पड़ा सोया, भरोसा है नहीं पल का।
दमादम बज रहा डंका, तमाशा है चलाचल का ॥"

अनुभवी संतों ने कहा कि—जीवन कितना चंचल और क्षण-भंगुर है। जीवन की चंचलता के बारे में नित्य आप अपने नगर के बाहर के प्रान्तों के, देश विदेशों के किस्से सुनते हो। आए दिन समाचार पत्रों में पढ़ते रहते हो कि कभी कोई हवाई जहाज को जरा दिशा सूचन में गफलत हो गई, पायलट-चालक गुमराह हो गया—भटक गया, यंत्र में खराबी आ गई अथवा मौसम की अन्य खराबी हो गई तो आकाश से हवाई जहाज जमीन पर गिर जाती और उसमें बैठे यात्री लोग अकाल में ही काल के ग्रास बन जाते हैं। ऐसे

ही रेल, मोटर, बस, स्कूटर आदि यान्त्रिक सवारी में खतरा हो जाने से से बहुत लोगों की मृत्यु हो जाती है। जीवन का ऐसा दर्द-नाक नाशवान् चलचित्र संसार में सदा दिखाई देता है।

आप रजत पट पर चलचित्र क्या देखते हो ! अपने घर में, गलियों में और मुहल्लों में ही घटित होने वाले इन चलचित्रों को देखो और सोचो कि इस क्षणभंगुर जीवन के भरोसे पर हम जो मंसूबा बांध रहे हैं कि बच्चों की शादी करलूं, घर गृहस्थी को ठीक ठिकाने लगा दूं तो फिर निश्चिन्त होकर धर्म करूंगा। अरे ! ऐसे विनश्वर जीवन में ये मंसूबे कहां तक पार पड़ेंगे ? खाली मंसूबा कुछ काम नहीं करता।

आज समाज के सम्मुख यह प्रश्न खड़ा है कि भावी पीढ़ी में धार्मिक परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए कौन काम करे ? राज-नैतिक क्षेत्र में काम करने वाले को सम्मान और कीर्ति दोनों प्राप्त होते। पर इधर धार्मिक कार्य में सेवा और पुण्य लाभ के अतिरिक्त तो कुछ मिलने का है नहीं। फिर भला ! बदनामी उठाकर, धार्मिक क्षेत्र में काम करने को कौन आवे। धार्मिक सेवा से सैकड़ों की धर्म प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष लाभ देख कर भी, लोगों का एक ऐसा स्वभाव हो गया है कि वे भौतिक लाभ को ही लाभ मानते हैं। धर्म लाभ एवं तप त्याग के लाभ को नहीं देखते। धर्म क्षेत्र में लोकोत्तर लाभ मिलता है, कर्म कटते हैं। हजारों लोग हमारे निमित्त से प्रेरणा पाकर, सहयोग पाकर धर्म मार्ग में लग सकेंगे, व्यसन छोड़ेंगे तो यह कोई साधारण लाभ नहीं है। परन्तु उस ओर ध्यान नहीं जाता और लोग भौतिक लाभ के पीछे उस महालाभ को भूल जाते हैं।

बड़ों के आगे रहने का प्रभाव

श्रीकृष्ण के उदाहरण से आप समझ गए होंगे कि एक बड़ा आदमी धर्म कार्य में आगे होता है तो हजारों आदमी प्रभावित होते हैं। साधारण लोगों का यह स्वभाव होता है कि नगर नायक या

उद्योगपति धर्म कार्य में आगे आता है तो उसके पीछे और कई तैयार हो जाते हैं। समाज का शुभोदय है कि राजस्थान हाई कोर्ट के न्यायमूर्ति सोहननाथ मोदी जैसे व्यक्ति स्वाध्याय संघ के संचालन में रस ले रहे हैं। समाज के अन्यान्य श्रीमान् और धीमान् भी इस तरह धार्मिक कार्य में स्थान लेने लगें तो अल्पकाल में धर्म का अभ्युदय हो सकता है।

श्रीकृष्णजी ने नवकारसी, पौरसी भी नहीं की और न कभी पौषध किया। सामायिक भी नहीं की। परन्तु हजारों सामायिक करने वाले खड़े कर दिए। त्याग, नियम, व्रत करने वाले तैयार कर दिए। भगवान् नेमनाथ के शासन की सराहनीय सेवा की और सैकड़ों दीक्षा लेने वाले खड़े कर दिए। जैसे जीवन के अन्य क्षेत्र के दलाल बने वैसे धर्म के भी दलाल बन गए। फलस्वरूप तीर्थंकर पद के अधिकारी हो गए। उन्होंने धर्म सेवा के बल पर यह कितना बड़ा लाभ मिला लिया। आज भी समाज में ऐसे धर्म दलालों की, कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है जो समाज को सुव्यवस्थित, सुसंगठित और ज्ञान क्रिया में समृद्ध बना सकें—शासन को जगा सकें।

मुझे याद है कि यहां पर एक बड़े मियां साहब थे। वे पचहत्तर वर्ष के बूढ़े थे। वे यदा कदा यहां आते रहते थे। एक बार वे कुछ दिनों तक नहीं आए तो मैंने पूछा कि मियां साहब आजकल दिखाई नहीं देते? पता चला कि धर्म प्रचार के काम से बाहर गए हुए हैं, उनके आने पर मालूम हुआ कि वे किशनगढ़ के आस पास में प्रचार कर आए हैं। उन्होंने बताया कि हम लोगों ने कुछ कौमी सेवा का कार्यक्रम बनाया है। आजकल के नौजवान इबादत में बराबर भाग नहीं लेते। उनको तैयार करने के लिए दो आदमी गली गली में घूम कर, नहीं आने वालों की सूची बनाते। दूसरे दो आदमी घर घर जाकर उन नौजवानों को हिदायत करते। फिर तीसरे दल वाले यह मालूम करते कि वे नौजवान बराबर आ रहे हैं या नहीं? मैं इसी

सिलसिले वाहर गया था। सोचा, जो हो सके कौम की उतनी खिदमत तो कर लूँ।

मियां साहब की सुनी अनसुनी करने वाली नहीं वरन् जगाने वाली और आंख खोलने वाली है। जिनके घर में भरपूर पैसा नहीं, खाने पीने की प्रचुर सामग्री नहीं, वह बुढ़ापे में भी गफलत में पड़े नवजवानों को जगाता है, कौम की खिदमत करता है। पर आप सबके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। जैन समाज के पास में सब प्रकार के साधन हैं, वह यदि धर्म के लिए ऐसी सेवा करे—प्रमाद त्याग कर कार्य करे तो कितना लाभ हो सकता है।

पैसे तो मिलते पर समय देने वाले नहीं

आज हमारे यहां के बूढ़े हथाई करते हैं, समाज में लड़ाई-झगड़ा करा देते मगर इन कामों में हाथ नहीं देते। कहने पर वताते हैं कि क्या करें? एक तो समय नहीं मिलता और दूसरा कोई हमें पूछता भी नहीं है। काम के लिए कहें भी तो काम नहीं करें, मगर पूछने की इच्छा प्रवल बनी रहती है। ऐसा क्यों? अगर आप पूछने की इच्छा रखते हैं तो औरों की व्यवस्था देखकर, अन्य धर्मावलम्बियों की कार्यपद्धति देखकर, इस क्षेत्र में यथासंभव अपना समय तो दीजिए। अभी भी बहुत समय है, कुछ अधिक नहीं बिगड़ा है। पैसा देने वाले फिर भी मिल जायेंगे किन्तु समय देने वाले नहीं, इसे नहीं भूलें।

हमारे कुछ स्वाध्यायी वन्धु इस प्रकार की सेवा देने के लिए तैयार हुए हैं और उनकी लगभग एक हजार के करीव संख्या होने जा रही है। जो गुलावपुरा और जोधपुर सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल के आश्रित हैं। अब सही ढंग से उनकी कैसी व्यवस्था की जाये, कैसे उनका विकास किया जाये तथा धर्म क्षेत्र में उनकी क्या सेवा ली जाये इस विषय में सबको सोचना है। चाहे जयपुर के भाई हों या अजमेर के, युवकों को इस दिशा में आगे लाने के लिए, सबका दायित्व है,

जिम्मेदारी है। अतः इस कार्य में सबको आह्वान है, आमन्त्रण है। छोटों को संभालिये, भूले विसरों को राह पर लाइए, समाज की कायापलट कीजिए, धर्म की पताका को फहराइए और जैन शासन का घर-घर में प्रचार प्रसार कीजिए। इस प्रकार से भगवान् महावीर के शासन की सेवा की तो आपका इस लोक और परलोक में कल्याण होगा।

●●

८

वीतराग-वचन का प्रभाव

कथा और उसके भेद

बन्धुओ ! अभी शास्त्र का जो प्रसंग चल रहा है, इसमें प्राचीन ऐतिहासिक कथायें हैं, कुछ पूर्वकालीन झांकियां हैं । कथाओं के प्रति जन-मन में विशेष अभिरुचि और इच्छा रहती है । तरुण और वृद्ध तो क्या ? बच्चे तक कथाओं में गहरी दिलचस्पी दिखाते हैं । कथाओं का सुनना प्रारंभ कर वे उसका अन्त किये विना छोडना नहीं चाहते । यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में कथा को अधिक महत्व मिला है । ऊंची से ऊंची बात या गूढ़ से गूढ़ पहेली तक कथा के माध्यम से सरलता पूर्वक हृदयंगम करायी जा सकती है । अनपढ़, अनजान एवं कर्तव्य-विमुख राजपुत्रों को विष्णु शर्मा ने कथा के द्वारा ही नीति शास्त्र में निपुण और पारंगत बनाया था ।

कथायें दो प्रकार की होती हैं—एक तो उदाहरण के रूप में, नसीहत के रूप में प्रयोग की जाती हैं और दूसरी ऐतिहासिक—इतिहास से सम्बन्धित होती है । जिसका प्रयोग तात्कालिक लोक दशा के साथ, नसीहत-शिक्षा के लिए भी किया जाता है । इन्हीं को आख्यान और उपाख्यान भी कहा जाता है । विपाक सूत्र की चालू कथायें उपाख्यान के रूप में नहीं, वरन् आख्यान के रूप में भी हैं । उपाख्यान का रूप ज्ञाता-धर्म-कथा में मिलता है । परन्तु विपाक सूत्र का कथानक-ऐतिहासिक-आख्यानपरक है । उसके साथ में शिक्षा प्रदान का काम भी करता है । आख्यान घटित घटना या सीधी कथा को कहते हैं और उपाख्यान उससे जुड़ने वाली छोटी कथा को । दोनों का कार्य लोक जीवन के मध्य अतीत की झांकी का दर्शन करा, उनसे नसीहत—शिक्षा प्राप्त कराना तथा जीवन को सत्य पथ पर ले चलना है ।

वीतराग-वाणी का प्रभाव

शास्त्र का एक-एक शब्द साधक के लिये गहराई से चिन्तन के योग्य होता है। क्योंकि न तो ये शब्द आसानी से सुनने को, न पढ़ने को और न चिन्तन को ही मिलेंगे। और बहुत से ग्रन्थ आप सुन लेंगे, पढ़ लेंगे, परन्तु वीतराग वचनों का सम्पर्क सद्भाग्य से ही प्राप्त होता है। कारण इन शब्दों में राग के जहर को कम करने की खूबी है—द्वेष के दर्द को दूर करने की क्षमता है। रागियों की वाणी राग का रोग बढ़ाती है, और वीतराग की वाणी उसे दूर हटाती है। जब राग का जहर घटेगा, तभी मानव-भक्ति मार्ग की ओर अधिक अग्रसर होगा। और इन्द्रिय, मन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण मनुष्य का जो कुमार्ग की ओर कदम था, आगे बढ़ने की इच्छा थी, राग के घटते ही उसकी वह दृष्टि बदल जायेगी। और त्याग-विरागमय वृत्ति के निर्माण से उसका मन संलग्न हो उठेगा। फिर उसे कभी किसी तरह की अधिक प्रेरणा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

प्रेरणा की आवश्यकता तभी तक पड़ती है, जब तक कि उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं होता। वस्तु को यथार्थ रूप से समझने और स्वभाव में लगी वस्तुओं को छुड़ाने के लिए उपदेशकों को कुछ कहना पड़ता है। मार्गदर्शन कराना पड़ता है। वस्तुस्थिति का बोध होते ही, बिजली के तार की तरह ज्ञान का एक खटका सारे रागात्मक सम्बन्धों को झटककर दूर कर देता है, छुड़ा देता है।

सुबाहुकुमार आदि ने वीतराग वाणी का श्रवण किया। और उनके अंतर्मन में ज्ञान की ज्योति जग गयी—प्रकाश चमक उठा। जब ज्ञान का प्रकाश जग उठा तो उनको मार्ग बदलते कुछ भी देर नहीं लगी और देखते ही देखते भोग से योग के साधना पथ पर दृढ़तापूर्वक चल पड़े।

मार्ग नहीं बदलने का और नहीं छोड़ने का यही कारण है कि उसमें कोई खास आकर्षण प्रतीत हो रहा है, किसी विशेष लाभ की

संभावना जंचती है। नहीं तो मार्ग की भयंकरता दिखते ही यात्री रास्ता बदल देगा, या चलते-चलते चूर-चूर हो गया हो या जरूरत से अधिक थक गया हो तो मार्ग छोड़ देगा। कोई भी यात्री जब यह जान लेता है कि इसके आगे भय है, खतरा है, जान माल और इज्जत को धक्का है तो वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ेगा। जहाँ है वहीं रुक जायेगा या अति शीघ्र रास्ता बदल देगा। उसको कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी। केवल सुन लिया है कि आगे गोली चल रही है या शेर बैठा है, आगे जाने वालों के जान की खैर नहीं है तो वह कदापि आगे नहीं जायेगा। ऐसे ही बाढ़ आयी हुई है, आगे रास्ता बन्द है, तब भी वह गति मोड़ लेगा। कहिये! वह गति मोड़ेगा या चलता रहेगा? नहीं चलेगा। क्योंकि मार्ग का भय यात्री के उत्साह को मन्द कर देता है तथा थकान भी गति रोक देती है, रुकने को विवश कर देती है।

संसार में दो मार्ग

ज्ञानियों ने दो प्रकार के मार्ग बताये हैं एक भव मार्ग और दूसरा शिव मार्ग। सीधे शब्दों में कहें कि एक संसार का मार्ग और दूसरा मोक्ष मार्ग। एक शान्ति का मार्ग और दूसरा भ्रान्ति का मार्ग। परन्तु प्राणी अनन्त-अनन्त काल से भव मार्ग याने दुःख एवं भ्रान्ति के मार्ग से ही चल रहा है। विषय, कषाय, भोग और प्रमाद वाले संसार मार्ग से चलते हुए भी वह मुड़ता नहीं है, दुःख सहकर भी रुकता नहीं है।

मैं कह चुका हूँ कि मुड़ेगा वही जो चलते-चलते थक जायेगा, भटकते-भटकते संसार सागर में गोते खाते-खाते ऊब जायेगा। लड़ाई भी वही आदमी बन्द करता है, जो लड़ते-लड़ते थक जाता है अथवा लड़ाई का दुष्परिणाम समझ जाता है। आज थककर लड़ाई बन्द करने वाले, ज्यादा मिलेंगे। परन्तु समझकर, होशपूर्वक बन्द करनेवाले कम मिलेंगे। संसार में जितने भी लड़ने वाले हैं वे छोटी-बड़ी लड़ाई लेकर कचहरी तक गए और हार गए तो बैठ गए, लड़ना छोड़ दिया।

यह सोचकर कि जाति, धर्म, एवं समाज की लड़ाई से हानि होगी, पैसे की हानि होगी, इस ज्ञान भाव से कोई भी रुकना नहीं चाहता। मजबूरी से जो भी करना पड़े, वात अलग है।

जैसे सांसारिक राड तकरार की वात है, ऐसे भव रोग की भी बात है। भगवान् ने कहा कि—मानव ! मार्ग बदलने की जो दो बातें हैं, उनमें थककर तो अज्ञानी भी बदलता है और बाह्यभोगों का त्याग करता है परन्तु अज्ञान से बदला हुआ मार्ग, कर्म निर्जरा का मार्ग नहीं होता है।

क्रोध, लोभ या अहंकार भाव में घर-बार और परिवार का त्याग करना भी मोक्ष मार्ग नहीं है, यह सब भव मार्ग है। विषय कषाय-वश त्याग करना भवमार्ग है। वासना का शमन कर ज्ञान भाव से त्यागना ही भव बंधन काटने वाला शिव मार्ग है। बहुत से लोग मिलते हैं जो परिवार में शान्ति नहीं रही, घर में कलह हुआ तो घर छोड़ दिया और बन में जाकर बस गए। सब कुछ छोड़छाड़ कर बाबाजी बन गए। वे त्याग का महत्व समझकर त्यागपूर्वक साधु नहीं बने। परन्तु झगड़े से ऊब गए और थक गए तो माया से अलग हो गए।

दुर्लभ मानव भव एवं भवप्रपंच

संसार के दुःखों से थककर भी आदमी हटता है। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है, जब आधि, व्याधि, उपाधिरूप त्रिविध तापों से प्राणी अनन्त काल से थपेड़े खाते भी थक नहीं पाता और समझ भी नहीं पाता यदि मानव जन्म जैसा सुन्दर अवसर पाकर भी यह बोध नहीं किया और केवल बाहरी वृत्ति की ओर ही चलता रहा जैसा कि मुनि हीरा जी ने अभी आप सबको सुनाया बहिर्भाव के सम्बन्ध में। मानव भव में उसकी ऐसी दृष्टि रही, यदि इस दृष्टि को बदल दें तो अगले जन्म की सृष्टि बदल जायेगी। भगवान् महा-वीर ने कहा—मानव ! सचमुच में बन्धन काटने का कोई अवसर, कोई स्थान मिलेगा तो वह मानव जन्म में ही मिलेगा। इसमें यदि ठीक तरह से नहीं संभला तो अन्यत्र तुमको अवसर नहीं मिलेगा।

नहीं संभलनेवाला अच्छा अवसर पाकर भी कैसे चक्कर खाता है, गोते खाता है, यह प्रभु ने अपने पूर्वभवों के कुछ उदाहरणों से बताया कि मैंने एक नहीं बीसों जन्म तक तप किया, योग किये, साधनायें की परन्तु तब जाकर संभला जब मुझमें आत्मभाव आया, ज्ञान आया। जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तब तक बराबर भटकता ही रहा।

प्रभु का जीव विश्वभूति के रूप में

पुराने भवों की कुछ परम्परा सुनाते हुए बताया गया था कि ब्राह्मण और स्वर्ग के भव करते-करते सोलहवें भव में महावीर के जीव ने राजगृह के एक राजकुल में जन्म लिया। वे राजकुल में युवराज के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। राजपुत्र नहीं होने से राज्य पाने का अवसर नहीं रहा। परन्तु मन में संतोष था कि कोई राज्य पाकर ही सुखी नहीं होता है। सुख का सम्बन्ध मन से है, अपने आपको समझने में है।

विश्वभूति ने विचार किया कि राजपुत्र नहीं होने पर भी मुझको कुछ भी कमी नहीं है, बल्कि ज्यादा आराम है। हुकूमत करनेवाले ज्यादा तकलीफ में हैं। मैं तो अपने बाल-बच्चों के संग उपवन में आराम से हूं, शान्तिपूर्वक बैठा हूं, कोई खटपट नहीं है। ऐसा सोचते हुए विश्वभूति का जीवन आनन्दपूर्वक बीत रहा था।

विश्वभूति के सुख से राजपुत्र को ईर्ष्या

इधर राजकुमार को राज्य ऋद्धि का सुख था। भविष्य में सिर पर पड़नेवाने राजमुकुट का गर्व तथा प्रताप का हर्ष था। फिर भी अपने भाई विश्वभूति का सुख उसको अच्छा नहीं लगा। दासियों के मुँह से उसका सुख वर्णन सुनकर, उसके हृदय में तीर की तरह चुभ गया। कैसे मैं उस सुख को प्राप्त करूँ इसके लिए वह बेचैन हो गया। उसने पिता के सामने अपने दुःख का वर्णन किया।

राजा ने सोचा अगर पुत्र का दुःख नहीं मिटा पाया तो मैं राजा किस काम का ? मगर समस्या टेढ़ी थी। विश्वभूति भी कोई दूसरा नहीं था। भाई का पुत्र था। स्पष्ट रूप से ऐसी बात उससे कहने की हिम्मत राजा की नहीं हो रही थी। हारकर उन्होंने मंत्रियों से इस सम्बन्ध में कुछ उपाय निकालने को कहा।

मन्त्रियों ने चालबाजी से एक कृत्रिम उपाय बनाया और दूत के द्वारा राजा को खबर करायी कि महाराज ! राज्य की सीमा के बाहर पड़ोसी राजाओं का उपद्रव बढ़ गया है। वे आपके राज्य को हड़पना चाहते हैं। सीमा तोड़कर अपनी सीमा में मिलाना चाहते हैं। उनका मुकाबिला होना चाहिये, सीमा पर सेना से सेना का सामना होना चाहिये। जितना शीघ्र हो सके उन पर विजय प्राप्त कर, हमेशा के लिए यह कांटा हटा देना चाहिये। दूत की बात सुनकर राजा ने हुक्म दिया कि शत्रुओं पर शीघ्र चढ़ाई करो। हम युद्ध करेंगे और उनको भगायेंगे। मैं स्वयं युद्ध के मोर्चे पर चलूँगा।

युद्ध और विश्वभूति का कर्तव्य-बोध

युद्ध के इस खबर की हवा चारों तरफ फैल गयी। आराम में समय बिताते हुए विश्वभूति के कानों तक भी यह खबर पहुंची। उसके मन में बड़े और पूज्य पुरुषों के प्रति बड़ा सम्मान था। उसने सोचा कि मेरे पिता के तुल्य महाराज विशाखनन्दी, राज्य की सुख-शान्ति के लिए युद्ध में जावें और मैं बैठा रहूँ तो मेरे बल, शक्ति और कौशल जो युद्ध में विजय दिला सकते हैं, वे किस काम के ? उन्होंने सोचा कि बड़ों के सामने कोई परिश्रम का काम आवे तो छोटों को उसमें हाथ बँटाना चाहिये। सेवा और श्रम के काम में आगे आना तरुणों का काम है।

भारतीय संस्कृति यह बताती है कि बच्चा जब समर्थ हो तो अपने से बड़ों को निज शारीरिक श्रम से राहत दिलावे, अपेक्षित सहयोग करे। और यदि ऐसा नहीं करता है तो वह अपने कर्तव्य से

च्युत होता है। विश्वभूति के मन में यह विचार हुआ कि इस अवसर पर मैं सेवा करूँ। इस विचार से वह तुरन्त तैयार होकर, पितृ तुल्य राजा विशाखनन्दी के पास पहुँचा और बोला कि—स्वामिन् ! सुनने में आया है कि आप युद्ध में जा रहे हैं। महाराज ! हमारे होते आपको युद्ध में जाने की क्या जरूरत है ? क्या हम इतने कायर और कमजोर हैं या इस योग्य नहीं हैं कि शत्रु से सामना कर सकें ? इससे तो हमारी बदनामी और आपकी कमी दिखेगी। हमारा फर्ज है कि ऐसे छोटे-मोटे काम को हम स्वयं हल करें और आप जैसे बुजुर्ग को कष्ट न झेलने दें। कोई बड़ा काम हो तो आपश्री पधारें।

राजा भी यही चाहता था कि इसके युद्ध में जाने से बगीचा खाली हो जाये। इस तरह अनायास ही मेरा पुत्र बगीचा पाकर खुश हो जायेगा। बगीचा एक है और उस पर नजर दो की है। इसका पार तो इसी रूप में पाया जा सकता है। संयोगवश मेरी इच्छा पूरी हो गई, खुशी की बात है।

विषमता गृह कलह का मूल

किसी भी संयुक्त परिवार में, कलह का प्रारम्भ तभी होता है, जब उसमें विषमता घर करने लगती है। पारिवारिक ढांचा जब स्वार्थ से चरमरा जाता तो वहाँ कलह बढ़ जाता है। परिवार के मुखिया को अपने घर के सदस्यों की इच्छा पूर्ति करने के लिए, बड़ी बुद्धिमानी से काम लेने की आवश्यकता है। यदि थोड़ा-सा भी उनमें विषम व्यवहार दिखा तो घर में कलह और तकरार हो जाती है। आज घर-घर में लड़ाई, कलह, विग्रह क्यों होते हैं ? कभी-कभी यह देखने में आता है कि एक वस्तु के दो दावेदार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ सामंजस्य स्थापित करने के लिए, समझौते से काम लिया जाता है।

समझानेवाले को यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता है—उसको उस वस्तु के अभाव से कोई कष्ट

न हो। और सामने वाले के मन में यह शक नहीं हो कि मेरे प्रति कोई पक्षपात हो रहा है। सरलभाव से केवल विवाद मिटाने और कलह टालने की भावना से, बड़ा से बड़ा झगड़ा भी हल हो जाता है। परन्तु राजा ने इस पद्धति से काम नहीं लिया। उसने छल के सहारे से काम निकालना चाहा।

धर्म एवं मैत्री में कपट का स्थान नहीं

याद रहे कि मित्रता में सरलता चाहिये। कपट से मित्रता नहीं रहती है, टूट जाती है। वह चाहे पिता पुत्र में, गुरु शिष्य में, स्वामी सेवक में, साथी-साथी के बीच या दो भागीदारों के बीच में हो। यदि आपस में सम्बन्ध को बनाये रखना है, तो कपट नहीं होना चाहिये। हमारे यहां धर्म का तो खास कर निवास ही ऋजुता में माना गया है। जहां सरलता नहीं वहां धर्म भी नहीं है। शास्त्र में कहा भी है—"माया मित्ताणि नासेइ" कपट से मैत्री भाव का नाश होता है।

धर्म के दो पाये हैं, एक आर्जवभाव और दूसरा मार्दवभाव। जिन्हें विनय और सरलता कहा है। विनय और सरलता जहाँ है, उस कुटुम्ब में, गाँव में, नगर में, राष्ट्र और जाति में, धर्म टिक सकता है। और जहाँ इसका अभाव है, वहां धर्म नहीं रह सकता। सांसारिक कारण से कोई व्यक्ति भले यहां कम आवे, भक्ति का व्यवहार कम करे, परन्तु मन से यदि सरल है तो उसके रास्ते पर लगना और चलना अधिक कठिन नहीं होगा। सरल मन होता है तो गाढ़ से गाढ़ विषमता के कारण भी दूर हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में कहा है कि—"सोही उज्जुय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"। याने धर्म को टिकाना है तो सबसे पहले मन को सरल और शुद्ध बनाओ, कपट को छोड़ दो। समाज, संघ या व्यक्ति कोई भी हो, आगे बढ़ने के लिए यह जरूरी है कि प्रथम तो मन की ऋजुता—सरलता हो

और दूसरे में विनम्रता हो। सरलता और विनय वाला व्यक्ति अपने आपको आगे बढ़ा सकता है। महावीर के जीव विश्वभूति ने उठे प्रश्न का हल कैसे किया, इसकी अधिक चर्चा आगे होगी। अभी तो यही कहना है कि महावीर ने अपना सारा कार्य हल कर लिया। वे अपने सारे बन्धनों से मुक्त हो गए—यह तो भूतकाल की घटना है।

सत्संग का प्रभाव

आज जिस रूप में संसार का चक्र चल रहा है, सब ओर विषमताएं फैल रही हैं, छल कपट का बाजार गर्म है, भाई-भाई की जान का दुश्मन हो रहा है, स्वार्थ परमार्थ पर हावी हो रहा है, इस दुःस्थिति को दूर करने के लिए सत्संग के प्रचार की महती आवश्यकता है। सत्संग क्या करता है? संतों के पास क्यों आते हैं? संतों को अपने यहां क्यों बुलाते हैं और संतों की सेवा में आना जाना क्यों करते हैं? आदि प्रश्नों के पीछे एक बात पकड़नी चाहिये कि खेत साफ होता है, नरम होता है तो उपजाऊ जमीन में, पैदावार चौगुनी होती है। क्षेत्र छोटा हो या बड़ा मगर उसमें सरलता होनी चाहिये। ऊबड़-खाबड़ न हो। अजमेर, जयपुर, जोधपुर आदि बड़े नगरों में ही धर्म की उपज अधिक होती है, ऐसी बात नहीं। सरलभाव हो तो छोटे-छोटे खेड़े भी वह काम कर डालते हैं, जो बड़े नगरों में भी नहीं हो पाता है। जीवन में यदि सरलता आ जाये तो बहुत कुछ बन जाता है।

अजमेर में संतों का चातुर्मास होने से गाँव-गाँव के लोग संतों की सेवा में आते हैं। जिससे संघ को अनेक कार्यकर्ताओं के परिचय का अवसर मिलता है। आप जानकर प्रसन्न होंगे कि गाँवों में भी काम करने वाले होते हैं। आज एक छोटे खेड़े लासलगाँव के श्रावक यहां दर्शनार्थ आए हुए हैं। प्रेरणा की दृष्टि से मैं थोड़ा इस छोटे गाँव का परिचय देता हूँ। हम लोग दक्षिण महाराष्ट्र से पीछे लौट कर ९९ के साल में लासलगांव पहुँचे। हमारा वहां कोई परिचय नहीं था। हमारे साथ बाबा सुजानमलजी म० भी थे। लोगों ने

दर्शन किए और व्याख्यान सुना तो उनका मन हुआ कि इन संतों का हमारे यहां चौमासा हो जाये तो अच्छा है।

महाजनों की ३०-३५ दुकानें और मात्र ५०० घरों का खेड़ा, परन्तु लोक सरल और सेवाभावी थे। गांव में थोड़ा-सा सामाजिक विवाद था। मगर इन्होंने सोचा कि आपसी कलह से चौमासा नहीं होगा। और पारस्परिक बातचीत से विवाद मिटा दिया। किसी को खबर तक न होने दी। सबका प्रेम और शान्त वातावरण का क्षेत्र देखकर हमने चौमासा मंजूर कर लिया। लोगों ने बड़ी लगन से सेवा की। महावीर जैन स्कूल चल रहा था। एक छोटा-सा छात्रालय भी था। लोग शिक्षा का उपयोग मानते थे। अन्य लोगों की इच्छा थी कि जैन समाज का हाई स्कूल न हो। सरकार की ओर से हाई स्कूल चल भी रहा था। फिर भी जैन तरुणों ने परिश्रम से जैन हाई स्कूल चालू कर दिया। आज वहां छात्रावास में १५० सौ बालक शिक्षण के लिए वास करते हैं। धर्म शिक्षा के लिए भी एक मास्टर है। गाँव के शान्त वातावरण में हमने साप्ताहिक मौन चालू किया जो आज तक चलता है। गाँव वाले भी आज तक धर्म स्थान को खुला रख कर प्रातः संध्या सामायिक और पौषध की साधना चला रहे हैं, प्रमोद की बात है। हर क्षेत्र में इस प्रकार संतों के उपदेश को स्थायित्व दिया जाय तो संघ अल्पकाल में ही उन्नत दशा को पा सकता है।

चातुर्मास के बाद से अभी तक किसी भी क्षेत्र में इनके यहां सुषुप्ति नहीं आयी है; प्रमाद नहीं छाया है। मुश्किल से करीबन एक दो साल खाली रहे होंगे। अन्यथा हर साल चौमासा करा रहे हैं। मिडिल स्कूल से कालेज हो गया है। आज जैनियों के घर भी अस्सी और सौ के बीच हो गए हैं।

लासलगांव मंडी का स्थान है। यहां बाहर गांवों की दो तीन सौ गाड़ियां, नित्य माल बेचने को आती हैं। पहले भी गाड़ियां आती थीं, किन्तु व्याख्यान के बीच कोई भी जैन बन्धु मंडी में नहीं जाता

था। रविवार को हाट भरती है, दुकानें लगती हैं। बाजार के सर्वे-सर्वा मारवाड़ी लोग ही हैं। इसलिए ये जब तक नहीं जायें, तब तक गाड़ियां रुकी रहती हैं, और सब दुकान भी बन्द रहते हैं। तो इतर समाज पर इन सबका ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है। मतलब यह कि इन्होंने सरल मन से धर्म को ग्रहण किया तो आज व्यवहार में, धर्म में, शिक्षा में, जीवन के सभी क्षेत्रों में ये आगे बढ़े हुए हैं। छोटे-छोटे पुस्तकालय और वाचनालय भी चलते हैं। अन्य भी कई सांस्कृतिक-कला केन्द्र हैं, जिन सबसे कस्बा दिन-दिन उजागर बन रहा है।

अजमेर और लासलगांव

आज लासलगांव की चर्चा का मुख्य मतलब यह है कि ३०-३५ घरों वाला, ऐसा छोटा सा गांव तरक्की कर सका। फिर पेंतीस पर एक बिन्दी लगा दीजिए तो साढ़े तीन सौ से भी अधिक घरों वाले इस अजमेर में कितने दिनों तक चतुर्मास का असर रहना चाहिए? आज उस गांव में जायें तो वहां स्थानक का दरवाजा बन्द नहीं मिलेगा। सामायिक करने वाले कोई न कोई बैठे मिलेंगे। धार्मिक शिक्षण का काम भी यथा संभव बढ़ रहा है। स्कूल कालेज आदि भी प्रगति के पथ पर हैं।

सोचिए ! वे भाई सैकड़ों गाड़ियों के रहते हुए भी बाजार में नहीं जाते थे। वे सोचते थे कि धंधा तो फिर करेंगे, परन्तु व्याख्यान का लाभ यदि छूट गया तो वह पुनः नहीं मिलेगा। धर्म ध्यान का अवसर चूक गया तो वह वापिस हाथ नहीं आएगा। तो ऐसा आप भी सोचकर चलेंगे कि व्यापार और दुकान अपनी-अपनी जगह पर हैं। हम जब भी जायेंगे, ग्राहक आजायेंगे और धन्धा चल पड़ेगा। परन्तु यह मौका जल्द नहीं मिलेगा। ऐसे सरल भाव से चलेंगे तो जीवन आगे बढ़ सकता है। भगवान् महावीर के जीवन से जागरण प्राप्त कर सकेंगे तो इस लोक तथा परलोक में आपका कल्याण होगा।

९

वाणी की शक्ति

वचन का चमत्कार

बन्धुओ ! जिनेश्वर भगवान् की वाणी का साक्षात् प्रभाव कैसा होता है ? पूर्वकाल के वीतराग वाणी सुनने वालों के नमूने से, अपने जीवन की तुलना करने के पहले, वाणी का महत्व हृदयंगम कर लेना चाहिये ।

संसार में वाणी के प्रसाद—वचन की मधुर भेंट देने वाले, जितने भी विलक्षण विद्वान् हैं, उनकी वाणी में वह सामर्थ्य या शक्ति नहीं है, जोकि राग के गरल को दूर कर सके । राग के विष को शमन करने की—निवारण करने की सामर्थ्य तो वीतराग की निर्दोष वाणी में ही है । जैसे एक गारूड़ी-मंत्रवादी थोड़े से शब्दों में, मंदध्वनि में मंत्र का उच्चारण करता है, परन्तु वह सर्प के विष को दूर कर देता है । गारूड़ी के मन्दध्वनि के मंत्रोच्चारण में जो सामर्थ्य है, वह कई घरों के लोगों के एक साथ जोर-जोर से बोलने पर कि हे नागदेव ! अपना विष खींच लो, दूर कर लो, क्षमा कर दो, तो भी वह विष दूर नहीं होगा । और कई बल देकर यह भी कह दे कि नाग ! तुझे माता की आन है, पवन सुत हनुमान की आन है, तो क्या इस आन के शपथदान से वह विष खींच सकेगा ? नहीं ।

कहने का तात्पर्य यह कि गारूड़ी जो सूक्ष्म स्वर में, एक मंत्र कहता है, वैसी बात कोई दूसरा बहुत जोर से भी क्यों न कहे, उसकी बात में वह शक्ति सामर्थ्य और ओज नहीं है, जिससे विष का असर दूर हो जाये, मिट जाये । परन्तु गारूड़ी की बात में असर है, प्रभाव

है, बल है। आज के वैज्ञानिक युग में भी विद्या के बल से, विष निवारण के प्रसंग आपने देखे और सुने होंगे। अच्छे अनुभवी मंत्रवादी गारूड़ी-विद्या के जानकार, सैकड़ों कोस दूर रहते हुए भी, सर्प दंश के विष को दूर कर देते हैं। ऐसे भी अनुभव रखने वाले लोग हैं। तो बात यह है कि जब एक साधारण साधना के बल की बात, गारूड़ी की शब्दावली में दृष्टिगोचर हो रही है, फिर यदि वीतराग वाणी के द्वारा, किसी के राग का विष दूर हो जाय, जहर मिट जाय तो आश्चर्य की क्या बात है ?

भद्रनन्दी की तरह, कोई राजकुमार हो या आज का भोगी प्राणी, जो मोह की मदिरा पीकर बचपन से ही उन्मत्त बना हुआ हो, फिर भी यदि एक बार वीतराग-वाणी का भावपूर्वक श्रवण, चिन्तन और मनन कर ले तो उसका राग-विष दूर हो जायेगा। परन्तु वाणी का हृदय में प्रवेश होना चाहिये। यदि वाणी दिमाग तक ही पहुँचकर रह जाये, कानों तक ही पहुँचकर रह जाये तो बात दूसरी है। परन्तु हृदय में पहुँच जाएगी तो अवश्य असर करेगी—प्रभाव डालेगी।

बहुत बार ऐसा होता है कि विष मिटाने की दवा गले में उतरते ही उल्टी हो गई और मूलस्थान तक दवा नहीं पहुँची तो दवा का असर नहीं होता। ऐसे ही वीतराग-वाणी जो राग निवारण की परमौषधि है, अचूक रामबाण दवा है, तभी काम करती है, जबकि इसको मूल-स्थान हृदय में पहुँचने का अवसर मिले। आज हम इस वाणी को ग्रहण तो करते, पर हृदय तक नहीं पहुंचा रहे हैं। इसलिए वाणी का सही लाभ नहीं पा रहे हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वाणी में असर नहीं रहा। वाणी या तो मूल-नालिका में नहीं पहुँचती या कोई दूसरी है। वस्तुस्थिति यह है कि वाणी ज्योंही हृदय में प्रवेश करेगी, त्योंही असर करने लग जायेगी। मूल-नालिका, हृदय का, लोक का एक मध्य भाग है, जिसे त्रसनाल का स्थान कहा है।

संसार में धर्मसाधन का केन्द्र

शास्त्र में, संसार चौदह राजु लोक प्रमाण कहा है। उसमें एक स्थान वह है, जहाँ त्रस जीव रहते हैं। वह स्थान केन्द्रित है। त्रस जीव सारे संसार में नहीं रहते। परन्तु वे जहां रहते हैं, उस स्थान को त्रसनाल कहते हैं। यह स्थान लोक में है। यह एक रज्जु चौड़ी और चौदह रज्जु लम्बी-ऊँची होती है। त्रसनाम कर्म के उदयवाले जीव, दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के और खासकर नर-नारक और पशु तथा देव ये सारे के सारे जीव, इस एक रज्जु चौड़े क्षेत्र में रहते हैं, जो त्रसनाल कहाता है।

हम मध्यलोक में रहते हैं। इसे तिरछालोक भी कहते हैं। साधारणतः लोक के दो भेद हैं। यों इसका पूरा विभाग किया जाये तो अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के नाम से भी कहे जाते हैं। परन्तु इन सब में धर्मसाधना नहीं होती। धर्मसाधना का मुख्य स्थान मध्यलोक है। वैसे अधोलोक में भी साधना होती है, मगर विरलरूप में, मुख्यरूप से नहीं।

अधोलोक क्या है? इसके लिए कहा गया है कि विदेह क्षेत्र की एक भूमि ऐसी है, जो हजार योजन ऊँड़ी है। मनुष्यलोक— तिरछा नौ सौ योजन तक माना गया है और वह हजार योजन है। जिसमें से सौ योजन का क्षेत्र नीचे के लोक में चला गया है। वहां रहनेवाले मनुष्य निम्न-लोकवासी कहाते हैं और धर्म करनी करते हैं। इस दृष्टि से मध्यलोक, धर्मसाधना का मुख्य केन्द्र कहा जाता है। यह है तो स्थूल बात, परन्तु शास्त्रीय बात है। इसलिए उत्तर देने में श्रोता संकोच करते हैं। स्वाध्याय करेंगे तो इन सब बातों की पूरी जानकारी होगी और कहीं किसी के पूछने पर जवाब देने में संकोच नहीं रहेगा।

वीतराग-वाणी का लाभ मध्यलोकवासी त्रसनाल के जीवों को ही मिलता है। श्रवण का लाभ मिलने पर भी, आचरण का लाभ

मिलेगा, तभी वे कर्म-बन्धनों को तोड़ सकेंगे। देखिये, सुनने का लाभ तो देवता भी लेते हैं। क्योंकि वे श्रवणधर्मी हैं और श्रवण धर्म के प्रभाव से मिथ्यात्वी देव सम्यक्त्वी हो सकते हैं। सत्संग में बैठकर देव, सम्यक्-दर्शन का लाभ ले सकते हैं और मिथ्यात्वी से सम्यक्-दर्शनी बन सकते हैं। यह भी छोटा लाभ नहीं है। परन्तु देव, चारित्र धर्म में, कदम आगे बढ़ाने के अधिकारी नहीं होते।

चेतना की रगड़ का फल

परन्तु आपकी सामर्थ्य-शक्ति उनसे कई गुना आगे है। आपने अपनी चेतना-शक्ति में विकास पाया है। मनुष्य होने के नाते आपकी करण-शक्ति भी बलवती है। आप में श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म दोनों के समाराधन की सामर्थ्य है। ऐसी बड़ी उपलब्धि मिली है। इस तरह आपको शक्ति तो है किन्तु उसको प्रकट करना है। बिना प्रकट किए काम चलने वाला नहीं है। जैसे माचिस की पेटी पास में होते हुए भी, कोई तूलिका निकाल कर नहीं रगड़े तो अंधेरा बना ही रहेगा—प्रकाश नहीं होगा। परन्तु तूलिका रगड़ते ही प्रकाश हो जायेगा। घुप्प अंधेरा छुप जायेगा, चहुं ओर प्रकाश चमक उठेगा।

अंधकार को मिटाने में वहां द्रव्य-तूलिका रगड़ने की बात थी। परन्तु हृदय में व्याप्त अज्ञान के सघन अंधकार को दूर करने के लिए, चेतना की तूली जलानी होगी। मानव मन में घर कर बैठे अज्ञान और मिथ्यात्व-आचार के अंधेरे को दूर करने के लिए, चिन्तन की तूली रगड़नी होगी। वीतराग स्वरूप सत्गुरु से जरा सी रगड़ मिल जाये, विधि-पूर्वक रगड़ खाले तो उसमें ज्योति जगते देर नहीं लगती, और अंधकार दूर हो जाता। इधर-उधर भटकना बन्द हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश मिलते ही मुक्ति का द्वार खुल जाता है। उग्र विषधारी चँड-कौशिक जैसा नाग भी, महावीर के चरणों में टकरा-कर ज्ञान की ज्योति प्राप्त कर लेता है। उस ज्ञान रूप पारस का स्पर्श पाते ही उसे क्रोध से क्षमाभाव में आते विलंब नहीं लगा।

सम्यग्-दर्शन और जीवन

भगवान् महावीर ने स्वयं के बारे में बताया कि अनन्त काल तक ज्ञान की रोशनी नहीं पाने से मेरी आत्मा भटकती रही। वह भी एक-दो जन्म नहीं, वरन् अनन्त-अनन्त काल पर्यन्त। परन्तु भटकते-भटकते एक समय ऐसा आया, जब नयसार के भव में, सम्यक्त्व पा लिया। जिससे जीवन में उजाला हो गया। इससे पहले भी भ० महावीर ने जन्म किए थे, परन्तु उनकी कोई गिनती नहीं। क्योंकि शास्त्रकार कहते हैं—मानव! मिथ्यात्व में किए गए अनन्त-अनन्त जन्मों का कोई मूल्य नहीं, कीमत नहीं है। सम्यग्दर्शनपूर्वक करनी करने का, जिस जन्म में अवसर मिलता, वही जन्म गिनती में आता है।

तो सोचिए, कि कितना बड़ा महत्व है, सम्यग्दर्शन रूप चिन्तामणि का। आप और हम लोग महान् सौभाग्यशाली हैं कि हम सबको सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हुई है। परन्तु इस चिन्तामणि रत्न को बहुत हिफाजत से रखने की जरूरत है। यह अमूल्य रत्न कहीं मैला न हो जाय और इसमें कहीं मिथ्यात्व की धूल नहीं लग जाये। सम्यग्दर्शन का इतना मूल्य है कि मिथ्यात्व दशा के करोड़ों वर्षों का तप सम्यक्त्व सहित एक उच्छ्वास के तुल्य भी नहीं होता।

सम्यग्दर्शन रूप इस अनमोल निधि पर गहराई से ध्यान रखने की आवश्यकता है। महावीर को नयसार के भव में, इस रत्न की उपलब्धि हुई। सम्यग्दर्शन के कई भेद और रूप हैं। जैसे औपशमिक, क्षयोपशम और क्षायिक, वेदक तथा सासादन ये मुख्य पांच भेद हैं। जिनमें उपशम और क्षयोपशम अल्पकाल में खत्म हो जाता। कारण उसमें मिथ्यात्व का मल दबा पड़ा है। वह मिट्टी के दीपक के प्रकाश की तरह है। जैसे दीपक का प्रकाश घंटा दो घंटा जब तक तेल रहता है और हवा का झोंका नहीं लगता, तब तक वह जलता है। परन्तु तेल खत्म होते या झोंका लगते ही बुझ जाता है।

मगर सम्यक्त्व-प्रदीप को तेल और बत्ती की जरूरत नहीं है। यह बुझने वाला दीपक नहीं है। आकाश के दीपक सूर्य, चन्द्र और

नक्षत्र भी समय पर ही प्रकाशित होते और पीछे विलीन हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन भी दो तरह का है। एक सम्यग्दर्शन छोटे दीपक की तरह सादि सान्त है, जिसके प्रकाश की आदि है और अन्त भी। जैसे सम्यग्दर्शन आया तो आदि और चला गया तो अन्त, औपशमिक सम्यग्दर्शन का अन्तर्मुहूर्त तक का काल है। उपशम सम्यग्दर्शनी जीव अन्तर्मुहूर्त काल के बाद, निश्चित मिथ्यात्व में जाता है। जैसे उपशम समकित वाले का गिरना निश्चित है, वैसे ही क्षायिक समकित वालों का नहीं गिरना भी निश्चित है।

सप्त प्रकृतियों के छेद से भवोच्छेद

सात प्रकृतियों के समूल क्षय करने से क्षायिक समकित की प्राप्ति होती है। ये सात प्रकृतियां इस प्रकार हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ, मिथ्यात्व मोह, मिश्रमोह और समकित मोह। इन सातों प्रकृतियों का समूल उच्छेद जिस भव्य प्राणी ने कर लिया, उसे फिर अन्धेरे में भटकने का काम नहीं रहता। वह कभी भटकेगा नहीं और अटकेगा भी नहीं। परन्तु जब तक क्षायिक समकित नहीं है, तब तक अटकता है।

सम्यग्दर्शन किसी के ठेके की वस्तु नहीं है। आपको या किसी को मिथ्यात्व मोह आदि सात प्रकृतियों का क्षय-उपशम या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। इसमें कुल, जाति, अवस्था का कोई कारण नहीं है। मोह मिथ्यात्व की गांठ ढीली हो या ना, पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। सामायिक हो सके, नहीं भी हो सके, परन्तु सम्यग्दर्शन की भूमिका आवश्यक है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है और मास खमण भी कर लिया तो मोक्ष मार्ग की साधना में उसका कोई मूल्य नहीं है।

भगवान् महावीर की आत्मा ने नयसार के भव में समकित की प्राप्ति की। परन्तु वह चला गया एवं जीवन में पुनः अंधेरा आ गया और वे जन्ममरण के चक्कर में घूमते रहे। विश्वभूति के भव

में फिर ज्ञान के प्रकाश का थोड़ा-सा लाभ हुआ। ज्ञान का प्रकाश होने से आने वाली उलझनें दूर होती गयीं।

विश्वभूति की मनोव्यथा

विश्वभूति जिस बगीचे में, आमोद-प्रमोद करते हर्ष से जीवन गुजार रहे थे, मंत्रियों ने छल से, धोखे से, उसको खाली कराकर विशाखनन्दी राजा के पुत्र का मय अन्तःपुर के, उसमें डेरा डलवा दिया। विश्वभूति को उस प्रिय उपवन से वंचित होना पड़ा। द्वार-पाल से जब विश्वभूति ने यह बात जानी तो उनको आश्चर्य के साथ बहुत दुःख हुआ। जैसा कि कहा है—

"विश्वभूति आ युद्धभूमि से, उपवन जाते हैं।
रक्षक जन से रोके जाकर, अचरज पाते हैं।"

उनको बगीचे से हटने का उतना दुःख नहीं हुआ, जितना राजा द्वारा किये गये कपटपूर्ण व्यवहार से दुःख हुआ। वे सोचने लगे कि महाराज को बगीचा खाली कराना था तो कौन-सी बुरी बात थी। किन्तु ऐसा धोखा क्यों किया? वास्तव में यह मेरी भूल है कि मैंने संसार के सुखों को मूल्यवान् मानकर, उनमें विश्वास किया। जैसे कि—

"हाल समझ मन में यों सोचे, राग रुलाते हैं।
राग अन्ध होकर मानव, अपनत्व, भुलाते हैं॥
छिपा रोष कारण पाकर, अब जोर दिखाते हैं।
तरु कपित्थ को दे टक्कर, फल सब भूमि गिराते हैं॥
शासन नायक वीर जिनेश्वर, की हम कथा सुनाते हैं॥"

अहो! संसार के सम्बन्ध कितने स्वार्थपूर्ण हैं। जिस राजा का अपने पिता से भी अधिक सम्मान रक्खा और उनका स्नेह भी ऐसा ही दिखता था कि पिता के अभाव में भी ये मेरी पूरी तरह रक्षा करेंगे। मगर मेरी सारी कल्पना और आशाएं धूमिल हो गयीं।

शास्त्र ने ठीक कहा है—"डज्झमाणं न बुज्झामो, राग दोसग्गिणा जगं। राग और द्वेष की दावाग्नि में जलते हुए जग को हम नहीं समझते।

कुछ काल के बाद जब विश्वभूति लौटकर आए और अपने निवास-स्थान बगीचे में प्रवेश करने चले तो द्वारपाल ने यह कह कर मना कर दिया कि बाग में अभी राजकुमार अपने अन्तःपुर सहित ठहरे हुए हैं। अतः लोक-मर्यादा और राजमर्यादा जो आप जैसों की बनायी हुई है, उनके परिपालन के लिए, आपका बगीचे में पधारना, ठीक नहीं है।

विश्वभूति को यह जानकर कि मेरा बाग में जाना निषिद्ध है, बहुत ही आश्चर्य और दुःख हुआ। उसने सोचा कि जिस बगीचे में, मैंने वर्षों तक आमोद-प्रमोद किया, वह छलपूर्वक मुझसे छुड़ा कर, राजकुमार को दे दिया गया। महाराज यों ही मुझे आज्ञा करते तो मैं छोड़ देता, बाधा नहीं देता। वैसा नहीं करके, मुझे छल से निकालना कितना बड़ा विश्वासघात है ! ठीक ही कहा है—

"हाल समझ मन में यों सोचे, राग रुलाते हैं।
राग अन्ध हो मानव, अपनत्व भुलाते हैं।।" शासन....

इस प्रकार विचार करते विश्वभूति एक बार जोश में आकर उबल उठे। और वहाँ पास में एक कपित्थ (कबीट) के झाड़ पर आवेश में आकर, एक मुक्का मारा। जिससे वृक्ष के सब फल धड़ा-धड़ धरा पर गिर गये। फलों की ओर इशारा करके विश्वभूति ने उन द्वारपालों से कहा कि—जैसे मैंने इसके फल गिरा दिये हैं, वैसे ही मैं तुम लोगों के सिरों को भी धड़ से गिरा सकता हूँ। परन्तु मुझे मर्यादा का ख्याल आता है कि मैं किस कुल में जन्मा हूँ और बगीचे में कौन है तथा मैं कौन हूँ ? एवं मेरा इनका सम्बन्ध क्या है ? मर्यादा को धक्का लगे, ऐसा कार्य करना, कदापि मुझे इष्ट नहीं। अन्यथा रोष तो इतना आ रहा है कि अभी तुम सबका तमाम काम कर दूँ।

विश्वभूति का अन्तर्बोध और दीक्षा

क्षणभर ज्ञान-दृष्टि से विश्वभूति ने अपनेआप सोच पर चिन्तन करते काबू पाया कि अरे ! मैं इसी राग रोष के कारण इतने काल तक जन्म-मरण का चक्कर काटता आ रहा हूँ। इस क्रोध के कारण आज तक भटका हूँ—फिर इसी में उलझा रहा तो भविष्य में भी भटकना पड़ेगा । अतः अब इस बन्धन को तोड़ना चाहिये ।

यह ज्ञान की बात है—आत्मकल्याण की बात है। ऐसा सोचनेवाला अपना भव बन्धन काट लेता और अभीष्ट मोक्ष धाम को पा जाता है। इसके पहले विश्वभूति ने कभी ऐसा नहीं सोचा था। और जब भी कभी सोचा तो बड़े परिवार, अंतःपुर, महल, कोठी वगैरह के सम्बन्ध में ही सोचा था। मगर आज उसने सोचा, अहो ! शास्त्र क्या कह रहा है—

"जीवियं चेव रूवंच, विज्जु-संपाय चंचलं ।
जत्थतं मुज्झती रायं, पेच्चत्थं नाववुज्झसि ।" उ०।१८।१३

याने यह जीवन और रूप चपला सम चंचल हैं। आगे पीछे ये मुझे छोड़ेंगे या पहले पीछे मैं इन्हें छोड़कर चला जानेवाला हूं। ये सारे राजशाही ठाठ, अंतःपुर, महल और कोठी आदि सब यहीं रह जानेवाले या नष्ट हो जानेवाले हैं। अगर ऐसी बात है तो मैं होशोहवाश में, खुशी से ही इन्हें छोड़कर क्यों न आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाऊँ ? ऐसा करने में मेरी आन, बान और शान सब रह जायेगी ।

इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर विश्वभूति नगर से वन की ओर चल पड़े तथा वहां आचार्य संभूतिविजय के पास जाकर—"मुंडे भवित्ता" अर्थात् दीक्षित हो गये। इस तरह वीतराग वाणी का एक प्रतिबिम्ब गिरते ही, उनका अमित काल से पालित-पोषित राग का जहर उतर गया—विष दूर हो गया ।

लागी लग, राग के झोंके से छूट जाती है

एक भक्त बोलने लगा कि आपका उपदेश तो बहुत लगा और तीर की तरह कलेजे में चुभ गया। परन्तु कवि कहता है कि—

"लागी लागी सब कहे, लागी नहीं लगार।
लागी जब ही जानिये, छोड़ चले संसार ।।"

आप लागी लागी तो कहते हो, परन्तु लागी तो तब समझी जाती कि आप वैराग्य धारा में बह जायें। वैसे लागी लागी तो सब कहते हैं, परन्तु वास्तव में जिसको लग जाती है, उसका कलेजा कांप उठता है, वह छटपटाता रहता है और शान्त नहीं बैठता है। आप कहते हो कि महाराज ! लागी तो सही परन्तु यहाँ से घर गये और घरवाली ने दो बात कही तो यहाँ की लागी सब, उसकी एक ही फूँक में चली जाती है।

घरवाली कहती है कि वहां की बात वहीं रहने दो और अपना नगारा ऐसे ही बजने दो। महाराज तो कहेंगे कि साधु बन जाओ, शीलव्रत लेलो और गाड़ी के जोड़े बैलों में से अलग हो जाओ। तो क्या ऐसे कोई काम चल सकता है ?, वे तो झोली लेकर फिरते हैं। परन्तु अपने पीछे तो बाल-बच्चे हैं, पूरा परिवार है। उन सबकी देखभाल करनी है। शादी-ब्याह करना है। महाराज तो ऐसे ही कहते रहते हैं। अपना सुनने का काम है, सुनते रहिये। एक लड़का बड़ा हो गया और होशियार भी। गादी पर बराबर बैठता है, लेन देन करता है, हिसाब करता है और वह भी कहता है कि पिताजी ! अब आप आराम करो। संसार में छोटे-मोटे विघ्न आते रहेंगे, पर उनमें बिना विचलित हुए डटे रहो, तभी कार्य हो सकता है। राग में जोड़ने वाले तो सब कोई मिलेंगे पर राग की बेड़ी काटने वाले, वीतराग संत ही हो सकते हैं।

काल का कोई विश्वास नहीं

आचारांग सूत्र का वचन है "णत्थिकालस्सणागमो" अर्थात् काल अवश्य आने वाला है। ऐसा न हो कि हम आशा ही आशा में

खाली रह जांय । मानव की आकांक्षा का चित्र खींचते एक कवि ने ठीक ही कहा है कि—

"चाहत हो धन होय किसी विध, तो सब काम सरे जियराजी ।
गेह चुनाय करूं गहना कछु, ब्याही सुतासुत बांटिय भाजी ।।
चिंतन यों दिन जाहि चले, जमराय अचानक देत दगाजी ।
खेलत खेल खिलारी गये, रह जाय सजी सतरंज की बाजी ।।"

हां, तो यह बाजी धरी न रह जाय, इसका ध्यान रखना है । अभी सुनने में आया कि हुबली में काम करने वाला एक भाई, जिसकी उम्र अधिक नहीं थी, केवल ४०-४५ साल का ही था, काल कर गया । तो मैं सोचता हूं कि ऐसे कई भाई हैं कि जिनका माल पड़ा रह गया, खाट पड़ी रह गई और सगे सम्बन्धियों से रिश्तेदारों से मिल भी नहीं सके और चले गए । इतनी बात सुनकर भी आपकी कितनी हिम्मत है कि कहते महाराज ! आप की बात सुनकर कलेजा हिल उठता है और होता है कि सब कुछ छोड़कर अलग हो जांय । मन संसार की नश्वरता पर खिन्न एवं उद्विग्न हो उठता है । परन्तु छोड़ के अलग हो जाने से भी कार्य नहीं चलता ।

इस संसार में जाने वालों की कहां तक फिक्र करें ? उनकी आयु उतनी ही थी । वे चले गए । हमको तो अभी संसार में रहना है । फिर घबरायें क्यों ? पहले सांसारिक काम कर लें, पीछे धर्म भी पकड़ेंगे । क्योंकि धर्म तो कहीं जाने वाला नहीं है । और धन अवसर चूकने से, हाथ से निकल जाता है । भाई ! इस प्रकार की घटनाएं निरंतर सुनते रहते हैं । कवि ने ठीक ही कहा है—

"मुसाफिर क्यों पड़ा सोया, तमाशा है चलाचल का ।
दमादम बज रहा डंका, तमाशा है चलाचल का ।।"

हमारे देखते-देखते कितने राजा-महाराजा, राष्ट्रपति और उद्योगपति यहां आए और चले गए । बड़े-बड़े शासकों के सिंहासन

हिल गए। फिर साधारण मानव की क्या बात है ? काल मुंह फाड़े बैठा है। न मालूम कब वह धर दबा ले। कबीर ने ठीक ही कहा है—

चलती चक्की देख के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय।।

कहा जाता है कि एक दिन कबीरजी स्नान करके, कंधे पर धोती रखे, आ रहे थे कि उनके कानों में, एक आवाज घट्टी चलने की आयी। वहां एक औरत घट्टी पीस रही थी। उन्होंने किसी स्त्री से पूछा कि यह किसकी आवाज आ रही है ? कहा, चक्की में आटा पीसा जा रहा है, उसकी आवाज है। हम लोग गेहूँ-ज्वार आदि के दाने डाल कर घट्टी का एक पाट घुमाती हैं तो सब दाने चूर-चूर हो जाते हैं। केवल कील के पास लगे दाने बचे रहते हैं।

कबीर ने सोचा कि ठीक यही स्थिति संसार की है। संसार भी एक बड़ी चक्की है। इस घूमते हुए चक्की के चक्कर में, लाखों करोड़ों नित्य पिसे जा रहे हैं। यह व्यावहारिक भाषा है। परन्तु इसी को यदि शास्त्रीय भाषा में कहूँ तो अनन्तर जीव पिसे जा रहे हैं और उनका कचूमर निकल रहा है। इस चक्की में पिसकर सबका चकनाचूर हो जाना है।

धर्म कील की शरण में ही रक्षा है

इस सांसारिक चक्की में चकनाचूर होने से, पिसे जाने से, यदि बचना है तो उसका एक ही रास्ता है, उपाय है, जिसे अपनाना चाहिये। आप सबने देखा होगा या सुना होगा कि चक्की चलाने के समय, जो दाना कील के पास टिक जाता है, वह दो पाटों के संघर्ष के बीच भी बच जाता है। भले कोई पूरे दिन रात चक्की को चलाते रहें, मगर कील के पास में पड़ा दाना, ज्यों का त्यों रह जाता है। उसका बाल भी बांका नहीं होता।

संसार की चक्की में भी धर्म की कील है, खूंटी है। यदि इस धर्मरूपी कील या भगवान् की भक्तिरूपी कील की शरण में आ

जाओगे तो जन्म-मरण के इन पाटों के बीच आकर चकनाचूर होने से बच जाओगे।

विश्वभूति भी भवप्रपंच को छोड़कर धर्म-कील की शरण में चले गए। इसके आगे वे किस तरह अजर-अमर बनने को भगवान् का मार्ग पकड़ेंगे, यह शिक्षण का विषय है—सबक है। इसको यदि सरल-भाव से ग्रहण किया जाये, आचरण-पथ में उतारा जाये तो हमारे अन्दर भी वही शक्ति है। आवश्यकता है पुरुषार्थ की।

यदि वीतराग-वाणी को सुनकर अपने अन्दर पुरुषार्थ प्रकट करेंगे, ज्ञान ज्योति जगायेंगे तो आपका भी इस लोक तथा परलोक में कल्याण होगा।

●●

१०

विश्वभूति समता के पथ पर

वीतराग वचन सुनने का महत्व

बन्धुओ ! अभी मंगलमयी भगवद्-वाणी का वाचन और श्रवण आप सबके सामने प्रस्तुत है। बोलना और सुनना ये दोनों क्रियायें संज्ञी-पंचेन्द्रिय प्राणी रात दिन करते हैं। पांच इन्द्रियवालों को श्रुतिधर कहा गया और वही संज्ञी भी हैं। संज्ञी का मतलब है समनस्क। इनको बोलने और सुनने का मौका करीब-करीब दिन रात मिलता है। संभव ही कोई ऐसा मौका आता हो, जबकि समनस्क कुछ बोलते और सुनते न हों। परन्तु वीतराग-वाणी जैसा मूल्यवान् श्रवण सुलभ नहीं होता।

अपने मनोभावों को दूसरे तक पहुँचाने और अभिप्राय को हृदयंगम कराने का माध्यम भाषा होती है। भाषा का अधिक उपयोग बोलकर एवं सुनकर ही किया जाता है। आज पठन-पाठन का भी अन्य साधन है। परन्तु लेखनयुग के पहले तो मात्र बोलना और सुनना ही था। इसी के द्वारा सब कुछ जाना-समझा जाता था। वाणी संज्ञी प्राणी के वास्ते एक वरदान है, सहज-साधन और विधान है।

आप भी नित्य कुछ न कुछ सुनते रहते हैं। परन्तु व्यावहारिक बातों के सुनने और कहने में, अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को बिताना, उतना मूल्यवान् नहीं है, जितना कि वीतराग-वाणी के श्रवण और वाचन में, समय का उपयोग मूल्यवान् है। मनुष्य जीवन की सार्थकता और उपादेयता कर्म बंध के काटने में है, जो वीतराग-

वाणी के सुनने से ही सम्भव है। महत्व इसका नहीं कि हम कितना अधिक बोलते और सुनते हैं ? किन्तु जो कुछ भी बोलें और सुनें वे कर्मछेदक और भंजक हों।

वर्षाकाल में घनघोर वर्षा होती है। वर्षा की बिन्दुओं का मूल्य, भूमि सस्योत्पादन के द्वारा प्रकट करती है। यदि भूमि अच्छी हुई तो साधारण वर्षा की बूंदों से, रिमझिम फुहारों से भी हरी-भरी हो जायेगी। और उसमें डाला गया बीज का एक दाना, हजार दानों के रूप में प्रकट हो जायेगा। किसानों का मन-मयूर नाच उठेगा।

परन्तु वर्षाकाल के अन्त में, स्वाती नक्षत्र में, घनघोर मूसलाधार वर्षा नहीं होती। धरती पर जलधारा नहीं बहती। नदी-नाले, ताल-तलैया नहीं भरते। मगर उस समय की स्वच्छ विरल बूंद का वह मूल्य होता है जो घनघोर वर्षण का नहीं होता। स्वाती जल के भरोसे जीनेवाले चातक के लिए जितनी अनमोल वह बूंद होती है, उतने जल भरे तालाब, सरित और सागर नहीं। स्वाती नक्षत्र के उन विरल बूंदों में, जब सीप अपना मुँह उन बूंदों के लिए खोले हुए होती हैं और स्वाती की एक बूंद जब उस मुँह में पड़ती है तो वह निर्मल बिन्दु, सीप के भीतर दिव्य मोती का रूप धारण कर लेती है। जिसका मूल्य हजारों पर पहुँचता है।

घनघोर वर्षा की बूंदें मोटी और जोरदार होती हैं। परन्तु उनमें वह निर्मलता नहीं जो स्वाती की विरल बूंद में होती है। ऐसे ही छद्मस्थों की वाणी घनघोर वर्षाकालीन वर्षा के समान बड़ी धारावाही होती है। वाणी में मिठास भी होता है और मन को बहलानेवाली, लुभानेवाली, शब्द लहरियाँ भी लच्छेदार निकलती हैं तथा उससे श्रोताओं का मनोरंजन भी काफी हद तक होता है। संसार में ऐसे छद्मस्थ वक्ता विद्वानों की भी कमी नहीं है। परन्तु उनके मुख से निकले हुए शब्द रूपी बूंदों से मोती नहीं हो सकते। चाहे वे शब्दों की झड़ी ही क्यों न लगा दें। परन्तु वीतराग संतों के

मुख से निकले, आगम के विरल शब्द, स्वाती बूंद की तरह भावुक-भक्त के निर्मल मानस में मोती का रूप धर लेते हैं।

कितना बदल गया इन्सान

वर्षा के बाद शरद् ऋतु आती है। कभी उसमें भी वर्षा होती है। परन्तु दोनों में अन्तर है। शरद् अपनी शारदीया चांदनी एवं स्वच्छता के लिए प्रसिद्ध है। पावस जैसी वर्षा से पंकिल एवं पिच्छल पथ के लिए नहीं। हां, तो प्रकृति की गति नियत है। प्रायः अपवाद को छोड़कर, प्रकृति के कार्यों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं होता। सब कुछ समय के साथ साथ चलते रहते हैं।

संसार में आदमी-इन्सान ही एक ऐसा अनोखा प्राणी है, जो अपनी गति बदल देता है। कभी उसमें सामंजस्य और एकरूपता नहीं रखता। मगर सूर्य, चांद और आसमान, जिनकी हस्ती के आगे इन्सान कुछ भी नहीं है, अपनी गति नहीं बदलते। वे सदा एक गति से चलते रहते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—"सूरज न बदला, चांद न बदला, ना बदला रे आसमान। कितना बदल गया इन्सान।

वस्तुतः आज का आदमी भी कितना बदल गया है! खासकर तरुणों-युवकों के परिवर्तन की तो कुछ हद नहीं। आपके वेष-भूषा, खान-पान आदि में विशेष बदलाव नहीं आया है। जबकि आपके बच्चे-बच्चियों और गृहणियों के वेष-भूषा, खान-पान और साज-शृंगार में अद्भुत परिवर्तन आ गया है। वे सारे तौर तरीके बदल गए हैं जो पहले थे। वेष देखकर सहसा समझ में नहीं आता कि इनके वस्त्र धारण का प्रयोजन क्या है? पर्दा या फैशन। रंग-बिरंगे झीने महीन वस्त्रों से न तो पर्दे का काम चलता, और न भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का भलीभांति निर्वाह होता। विदेशी संस्कृति का आज के जन-मानस पर पूरा प्रभाव और अधिकार सा बना दिखाई दे रहा है।

पहले के लोग खाते-पीते तो शान्ति से वैठकर पहले दो नाम प्रभु के लेते और फिर खाते। स्वास्थ्य के लिए भी वह लाभदायक होता था। आज चलते-फिरते और बूट पहने ही खा लिया जाता है। भक्ष्याभक्ष्य और शुद्धि का भी विचार नहीं देखा जाता है। टट्टी-पेशाव के लिए जाना होता तो एकान्त पर्दे की जगह जाकर वैठते। पर आज की वेष-भूषा ऐसी हो गई कि उसमें वैठना आसान नहीं होता। इससे पैर और कपड़े को छींटे लगे, इसकी चिन्ता किए बिना लोग खड़े-खड़े पेशाब करने लगे। कितनी हास्यास्पद स्थिति है ? वेष-भूषा की इस नकल से सामायिक आदि धार्मिक क्रियायें भी यथाविधि नहीं होती। तरुण लोग पेंट और पायजामे मे ही सामायिक करने लगे हैं। जबकि सामायिक पौषध में, साधु की तरह बिना सिले कपड़े का ही उपयोग होना चाहिये। परन्तु आज का मानव इतना वदल गया कि उसको नैतिक मर्यादाओं का पालन करना कठिन हो गया है।

समय को बदलना मनुष्य के अधीन है

मानव समाज की नीति-रीति और प्रकृति की गतिविधि से, शास्त्रकारों ने आने वाले काल के शुभाशुभ की पहिचान बताई है। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में, सुकाल—दुष्काल के दस बोल वताये गये हैं। पांचवें स्थान में संक्षिप्त कर पांच वोल कहे गए हैं। उनमें दो बोल प्रकृति से सम्वन्धित और तीन वोल मनुष्य की दृष्टि से वताये हैं। असमय में वर्षा होना और समय पर नहीं बरसना ये दो भविष्य की अशुभता के चिन्ह हैं। तीसरा असाधुजनों की पूजा और सत्कार हो तथा गुणवान् साधु पुरुषों की पूजा—महिमा नहीं हो! एवं गुरुजनों पर अज्ञानवश मिथ्या भाव हो तो समझना चाहिए कि आने वाला समय अच्छा नहीं है।

इसमें समय पर वर्षा नहीं होने और विना समय घनघोर वर्षा होने से, जनजीवन असुरक्षित हो सकता है। ऐसे अपूज्यों की पूजा और पूज्य पुरुषों के तिरस्कार से, सामाजिक स्थिति में गिरावट

आना संभव है। मानव की रीति-नीति और व्यवहार ही समय को अच्छा एवं बुरा बनाने का कारण है। वर्धमान महावीर और गाँधी ने जनबल पर ही युग बदला। अतः यह समझना कि जमाना मनुष्य को बदलता है, ठीक नहीं। कहा भी है—

"लोग कहते हैं कि जमाना है बदलता अक्सर।
मगर मर्द वो होते हैं, जो जमाने को बदल देते हैं।"

स्वाति नक्षत्र के स्वच्छ जल की बूंद, सीप के मुंह में पड़कर, मूल्यवान् मोती बनता है। ऐसे वीतराग-वाणी, योग्य हृदय में पड़कर, त्याग-विराग में परिणत हो जाता है। हमको सीप की तरह अपना मानस बनाकर वीतराग वचन रूप स्वाति-जल, उसमें धारण कर, उसे मोती जैसा तेजस्वी बनाकर जन-जीवन को उजागर बनाना चाहिये।

स्वच्छ मन में त्याग विराग के मोती बनते देर नहीं

विश्वभूति ने इतने बड़े परिवार एवं राजकीय साहिबी को क्षण भर में कैसे छोड़ दिया ? यह देखकर आपको आश्चर्य होता है, हो सकता है ? परन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं। उसने वीतराग-वाणी को अपने हृदय में धारण किया था। आप भी उनकी तरह अपने स्वच्छ मन में त्याग की प्रक्रिया अपना सकते हैं। अभी आपने मन का कचरा दूर नहीं किया, अतः भोग्य पदार्थों के त्याग की बात आपकी समझ में नहीं आती। परन्तु जब मन का कचरा दूर कर लिया जाता है, तो सहज ही भोगरुचि हट जाती है। और रुचि हटते ही भोग्य वस्तु के त्याग में विलम्ब नहीं होता—देर नहीं लगती है। भोग के छोड़ने और नहीं छोड़ने में, मूल कारण मन का बदलना है। मन दो कारणों से बदलता है एक अप्रीति के वश होकर और दूसरा ज्ञान पाकर। अप्रीतिवश त्याग के उदाहरण तो आपको अपने जीवन में भी कई मिलेंगे। कभी आपको अपने दोस्त से, साझीदार से, ब्याही लोगों से या अन्य सम्बन्धियों से मन फट गया, किसी बात को लेकर मन में खटास आ गया। वैसे तो आप उनके साथ हर जगह जाते और

एक जीव होकर रहते। पर अभी उनके यहां खाना-पीना है, सगाई का अवसर है, फिर भी आप नहीं पहुँच पा रहे हैं।

कभी लड़के के यहां बाप के नहीं जाने का नमूना भी देखा होगा। बाप-बेटे के पास और बेटा-बाप के पास नहीं जाता। क्या? इसको त्याग वैराग्य कह दें। स्त्री और पुरुष जो खास निकट के सम्बन्ध वाले हैं, परस्पर में अतिगाढ़ स्नेह होता है। स्त्री के कारण पुरुष अपने मां-बाप को छोड़कर भी अलग रहता है, मगर मन के फटने पर वह प्राण-प्यारी पत्नी भी कड़वे तुंबे की तरह खारी हो जाती है। आदमी कहता है—यह मेरी नहीं और मैं इसका नहीं। बोलना मिलना ही नहीं बन्द होता, वरन् आपसी सम्बन्ध छेद के लिए—तलाक के लिए, कचहरी में मामले भी चल पड़ते हैं। और दोनों से दोनों आकाश एवं जमीन की तरह सदा-सदा के लिए दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार दीर्घ काल के आपसी मधुर स्नेह को तोड़ने में कितनी देर लगी? यह स्नेह और भोग कैसे छोड़ा? कारण मन बदल गया। दृष्टि बदली और सारी की सारी सृष्टि बदल गयी। यह अप्रीतिवश त्याग का स्वरूप है। बन्धुओ! आपके बीच कई ऐसे साझीदार हैं, जिनके वर्षों तक धन्धे में—व्यापार में—साझा रहा। पता ही नहीं चलता कि ये सगे भाई नहीं हैं। दोनों एक-दूसरे को देखे बिना चैन नहीं पाते। साथ ही खाते और साथ की नींद सोते थे। परन्तु मन फटने पर वह साझीदारी समाप्त हो गयी। अच्छे प्रेमी और ब्याही के रूप में, वर्षों साथ-साथ रहकर भी बेराजी से अलग हो गए। इस प्रकार की जुदाई को त्याग नहीं कहा जा सकता और न इससे धर्म-पुण्य ही होता।

बेरागी बनकर छोड़ने का मजा, बेराजी छोड़ने में नहीं

बेराजी होकर तो छोड़ते आए हो, ऐसे उदाहरण अनेक हैं। अज्ञानी प्राणी भी बेराजी होकर गृह छोड़ने का नाटक तो खेलते

रहते हैं। परन्तु बेरागी होकर छोड़ने की और बात है। बेराजी होकर तो आप भी छोड़ देते हो। मारवाड़ में बहुत से ऐसे गांव हैं, जहां पहले किसी की, गांव के ठाकुर से रंजिश हो गई तो वहां की अपनी हवेली, जमीन सब कुछ छोड़कर चल दिये। कारण एकमात्र गांव के ठाकुर से नाराजगी। अक्सर पत्नी पति से लड़ झगड़कर, वाल-बच्चे परिवार सबको छोड़कर कहीं चली जाती और दूसरा घर बसा लेती है। मगर ऐसे बेराजी के त्याग में मजा नहीं है। मजा तो वैरागी होकर छोड़ने में है। ज्ञानपूर्वक समझ-बूझकर छोड़ो तो धर्म होगा—कर्म कटेंगे। वैरागी होकर छोड़ने की स्थिति कब आती है! जब वीतराग-वाणी की दो बूंदें, हृदय सीपी में पड़कर मोती का रूप धारण करती है। एक छोटी-सी बूंद की तरह थोड़े से वचन भी मन को उजागर कर देते हैं। इसका नमूना देखिये महावीर के पूर्व जीवन में।

विश्वभूति का त्यागपूर्ण जीवन

विश्वभूति के जीवन पर जरा गहराई से सोचने की आवश्यकता है। बेराजी से छोड़ने का पहला उदाहरण तो आपके सामने कदम-कदम पर है। परन्तु दूसरा उदाहरण, जिसमें वैरागी बनकर धन से, परिवार से, मोह हटा कर वैराग्य से छोड़ा जाता है। इससे आपके भव-बंधन कट जायेंगे। परन्तु व्याहीजी से लेन-देन में गड़बड़ी होने पर, आना-जाना बन्द करना, लड़की को नहीं भेजना, सम्बन्ध तोड़ लेना आदि से तो पाप कर्मों का बन्ध होगा, निर्जरा नहीं। वैराग्य जगने से यदि कोई ज्ञानपूर्वक छोड़े तो उसमें आनन्द है, मजा है। किन्तु मन पर चोट लगे बिना, वैराग्य भी नहीं जगता है।

बगीचा छूटने से, चाचा के विषम व्यवहार से विश्वभूति को भी वैराग्य हो गया। उन्होंने विचार किया—क्षणभर चिन्तन के पश्चात् निर्णय किया कि दुःख और क्लेश का मूल कारण परिग्रह है। इसी के कारण राजा कपट कर रहा है। और इसी मोह के कारण मुझे शोक होता है। अतः राजा के व्यवहार पर मैं शोक करूँ

तो यह ठीक नहीं। कारण वह तो स्वयं मोह की मदिरा से भान भूला हुआ है। किसी ने भूल से भंग का लोटा पी लिया हो तो उसका शिर बराबर काम नहीं करता। वह कभी ऊँचा-नीचा बोल दे तो समझदार उस पर नाराज नहीं होता। बल्कि यह समझ कर दया करता है कि अभी इसको भान नहीं है। इसी तरह राजा भी मोह के अधीन होने से दया का पात्र है। मुझे इस पर दया कर, अपने आपका उद्धार करना चाहिये; मेरे लिए यही श्रेयस्कर है। ऐसा सोचकर विश्वभूति ने देखते ही देखते अपना मन मोड़ लिया। क्रोध की जगह उसके मन में क्षमा उमड़ आयी। फलस्वरूप विश्वभूति वेराजी के स्थान पर वेरागी हो गया।

उसने अपने निकलते-निकलते सोचा कि मैंने क्रोध में आकर इस झाड़ को हिलाकर वनस्पति के कितने जीवों का अनिष्ट कर दिया। यह तो मेरा मोह का ही चक्कर है। अब मुझको वैरागी होकर, कृत कर्म के प्रायश्चित स्वरूप, यह भवप्रपंच छोड़ देना चाहिये। यही मेरे लिये श्रेयस्कर है।

ऐसा निश्चय कर विश्वभूति ने अपनी रानियों से कहा कि अब तुम मुझसे कोई आशा नहीं रखना। हमारा तुम्हारा संयोग इतने ही दिनों का था। हम जब तक रहे, परस्पर परम प्रीति-रीति से रहे। सदा सबको प्रसन्नता के लिए, सब कुछ सोचते रहे। मगर अब मैं तुम सबसे सदा-सदा के लिए विदा ले रहा हूँ। मेरी इस विदा का अर्थ मरना नहीं, किन्तु तुम लोगों से अलग होकर, गुरु-चरणों में आत्म-कल्याणार्थ जाना है। तुम सबके लिए खाने-पीने के पदार्थों में कुछ भी कमी नहीं है। खाना-पीना और बन पड़े जहाँ तक सत्कार्य में मन को लगाना। इस प्रकार अपनी प्रियाओं को समझा-बुझाकर विश्वभूति वहाँ से निकल पड़ा।

विश्वभूति भगवान् महावीर का जीव है। और नयसार के भव से वह सोलहवाँ भव बिता रहा है। अपनी रानियों से विदा लेकर वह आगे निकल पड़ा और आचार्य सम्भूतिविजय के पास पहुँचा।

सम्भूति विजय उस समय के परम त्यागी-विरागी और ज्ञान-क्रिया-निष्ठ श्रमण थे। उनके चरणों में जाकर विश्वभूति ने कहा—भगवन्! मुझे इस असंयम से संयम में रमण करने को, ममता की बेड़ी काटकर समता की वरमाला पहनाइये। मैं समता के सागर में गोते लगाकर आनन्दित होना चाहता हूँ।

सम्भूति विजय की कृपा से विश्वभूति सर्वथा पापों का परित्याग कर मुनिधर्म में दीक्षित हो गये। विश्वभूति किस तरह साधना-पथ पर आगे बढ़ेंगे—यह सुनने पर आगे विदित होगा। आप मन में जरा मनन कीजिये और निर्मलता के साथ गुरु-वचन की बिन्दु को मोती बनाइये। यदि सम्यग्ज्ञान और दर्शन की ज्योति भर सकोगे तो निश्चय अजर-अमर पद के अधिकारी बन सकोगे।

●●

११

प्रगति का शत्रु प्रमाद

कल्याण पाने और अकल्याण से बचने के उपाय

बन्धुओ ! साधना के क्षेत्र में, गतिमान कल्याणकारी मानव को, साधना के साधक-बाधक कारण और विघ्नों का ज्ञान होना आवश्यक है। जो भी व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है, वह साधक चाहे भ० महावीर के युग का हो अथवा उससे भी प्राचीन युग का हो, उसको यह चिन्तन करना होगा कि कल्याण के साधन क्या हैं ? तथा आगे बढ़ने में रोकने वाले बाधक कारण या विघ्न क्या हैं ?

इन दोनों का सम्यक् विचार करके कल्याण साधना के जो उपाय हैं, साधन हैं, उस ओर यदि वह अपने प्रमाद को—आलस्य को हटाकर गति करेगा तो अवश्यमेव उसकी साधना कल्याणकारी सिद्ध होगी। और वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जायेगा। एक ही गति के दो लक्ष्य हैं, एक तो बाधाओं से प्रगति विरोधी तत्वों से दूर होना और दूसरा सत्-साधनाओं की ओर आगे बढ़ना। एक ही क्रिया के ये दो फल हैं।

क्रिया एक और फल दो

एक ही क्रिया के दो फल, यह सुनने में चाहे जैसा भी अटपटा लगे, परन्तु है बिल्कुल सत्य और दुरूस्त। आप अपने व्यावहारिक पक्ष की ओर कभी ख्याल करेंगे तो उसमें भी आपको ध्यान आयेगा कि एक ही क्रिया के दो फल होते हैं। क्रिया एक और फल दो, इस अटपटी बात को समझने के लिए आपको यह ध्यान में लेना है कि कोई पथभ्रष्ट—मार्ग भूला हुआ व्यक्ति, किसी भयानक जंगल में, गोता

खा रहा हो और सहसा उसको भान हो जाय कि मैं अपना रास्ता भूल गया हूँ। इस तरह चलते हुए गंतव्यस्थान तक पहुँचने में समय और शक्ति का अपव्यय होगा—तो मुझे रुककर किसी जानकार से पूछकर सही मार्ग जान लेना चाहिये। इस तरह मन में चिन्तन कर, जानकार से पता लगाया तो मालूम हुआ कि तू जिस ओर की पगडंडी से चल रहा है—वह तुझे आगे नहीं पीछे की ओर ले जाने वाली है। तुम्हारे श्रम और शक्ति को व्यर्थ करने वाली है। तू मेरे बताये मार्ग की ओर बढ़। यह मार्ग तुझे जल्दी और निर्विघ्नतापूर्वक सही स्थान पर पहुँचा देगा।

इस तरह मार्ग बताने वाले की सलाह और उसके सुझाव पर यदि वह पूर्व पकड़े कुमार्ग से मुड़कर एवं उसके बताए सुमार्ग से चलेगा तो क्या होगा ? निश्चय ऐसा करने से उसका उलटमार्ग का चक्कर घटेगा और वह इष्ट स्थान की ओर बढ़ जायेगा। वह जो दो चार खेतों का चक्कर खा गया था, सही रास्ता पकड़ने से अब वह चक्कर घटेगा और मूल मार्ग की ओर बढ़ता रहेगा।

इसी तरह इस जीव के लिए बात है कि जो संसाररूप अटवी में, विषय-कषाय के चक्कर में गोते खा रहा है, अपने जन्म मरण को बढ़ा रहा है, भव शृंखला को बजाए घटाने के और ज्यादा कर रहा है। यदि उसको मार्ग और कुमार्ग का ज्ञान हो गया और इस ज्ञान के चलते वह कुमार्ग छोड़कर, सुमार्ग की ओर कदम बढ़ाया तो इसके भी दो फल होंगे। एक तो भव भ्रमण बढ़ाने के कारणों से बच गया तथा दूसरा गन्तव्य की ओर आगे बढ़ा। परन्तु यह कब हुआ ? जानने भर से नहीं हुआ। हाँ, जानना पहला साधन है, फिर मार्ग कुमार्ग का परिज्ञान करके, उस पर चलना सम्यक् क्रिया है। क्रिया को सम्यक् बनाने के लिए, ज्ञान की आवश्यकता होती है। फिर क्रिया के लिए, शक्ति और सामर्थ्य होते हुए, उसे प्रगट करने की आवश्यकता है।

हर प्राणी में सिद्ध बनने की शक्ति है

भ० महावीर ने किसी भी जीव को कमजोर नहीं माना है। उन्होंने कहा—हर प्राणी में, हर मानव में, सिद्धत्व की शक्ति है। इसमें आश्चर्यचकित होने की बात नहीं। बहुत बार आप बोलते हैं कि—

"सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध होय।
कर्म मैल को आँतरो, बूझे विरला कोय॥"

बन्धुओ ! जीव में और शिव में, आत्मा और परमात्मा में अंतर क्या है ? महापुरुषों ने कहा कि मूल में दोनों एक हैं। परन्तु जरा सा अन्तर है। 'सिद्धा जैसो जीव है' अर्थात् यह जीव भी सिद्धों जैसा है। यहां जैसे का मतलब यह कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, ऐसा ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति आदि गुणों से युक्त जीव है। अर्थात् वे सारे गुण आप में और हम में भी मौजूद हैं। परन्तु कोई कहे कि वृक्ष जैसा ही बीज है तो यह कथन आप में से किसी को नहीं जंचेगा। आप सोचेंगे कि कहां वृक्ष की लम्बाई, मुटाई, बड़ी-बड़ी डालियां, फूल-फल-पत्ते और कहां एक नन्हा, लघुरूप बीज! दोनों की एकरूपता सहसा गले उतरने जैसी बात नहीं है। परन्तु यदि आप ऐसा कहने के भाव को ध्यान में लेंगे तो समझ जायेंगे कि जो वृक्ष का विस्तार है, वृक्ष में जो भाव है, रूप है, कोमलता और कर्कशता आदि वे सारे के सारे गुण, बीज में मौजूद हैं। यदि बीज में ये गुण नहीं होते तो निश्चय वृक्ष में भी उन-उन गुणों के दर्शन नहीं होते।

न्याय शास्त्र का सिद्धान्त है कि—"कारण-गुणाः हि कार्य-माश्रयन्ति"। याने कारण के गुण ही कार्य में आश्रय पाते हैं। अन्तर इतना है कि बीज में जो गुण मौजूद हैं, वे शक्ति रूप में, मूलरूप में हैं। प्रकट रूप में प्रत्यक्ष रूप में नहीं हैं। बीज और वृक्ष का यह अन्तर स्पष्टतः समझ में आ सकता है। वैसे ज्ञानी ज्ञान से, जीव और

शिव का अन्तर समझ लेते, परन्तु अज्ञानियों को प्रत्यक्ष होते हुए भी समझ में नहीं आता।

प्रगति का बाधक प्रमाद

नीतिज्ञ विद्वानों ने कहा है कि मनुष्य सुखी क्यों नहीं बनता? गरीबी के दुःखों से मुक्ति क्यों नहीं पाता? कोई मूर्ख क्यों रहता है? पण्डित क्यों नहीं बनता है? इन सारे प्रश्नों का उन्होंने एक ही संक्षिप्त और सही उत्तर दिया—जवाब दिया कि मनुष्य में आलस्य बैठा हुआ है—प्रमाद घुसा हुआ है। इसी कारण मनुष्य धनी नहीं बनता, पंडित और ज्ञानी नहीं बन पाता है और न साधना करके सिद्ध ही हो पाता है। यदि वह आलस्य और प्रमाद को छोड़ दे तथा पुरुषार्थपूर्वक साधना में लग जाय तो साधक से सिद्ध होते देर नहीं लगे। सिद्धि में रुकावट डालने वाला आलस्य ही तो है, जो मानव का परम शत्रु है।

आलस्य ही शत्रु और पुरुषार्थ ही मित्र

व्यवहार जगत् में शत्रु मित्र की परिभाषा अलग रूप में की जाती है। जैसे कोई किसी का नुकसान कर दे, हानि पहुँचा दे तो वह शत्रु। और समय पर सहायता कर दे, लाभ पहुँचा दे तो वह मित्र बन जाता है। नीतिकारों ने कहा है—

> **"आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपुः।**
> **नास्त्युद्यम समो बन्धुः, यत् कृत्वा नावसीदति॥"**

याने मनुष्य के शरीर में रहने वाला, आलस्य नाम का एक बड़ा शत्रु है। और उद्यम-पुरुषार्थ के समान एक बन्धु भी है, जिसको करके वह कभी दुःखी नहीं होता है। आलस्य ऐसा शत्रु है जो किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं होने देता। पद-पद पर बाधा पहुँचाता है। सांसारिक सिद्धि में भी जब उससे बाधा खड़ी होती है तो आध्यात्मिक सिद्धि की तो बात ही क्या? हमारा बाहरी शत्रु जितना

घातक और अपकारी नहीं, उससे बढ़कर यह शरीरस्थ आलस्य शत्रु है। दूसरी ओर पुरुषार्थ से बढ़कर अपना कोई मित्र नहीं—बंधु नहीं है, जिसका कि आश्रय ले मानव दुःखी नहीं होता। ये दोनों शत्रु और मित्र हमारे अन्तर के हैं—अपने हैं। बाहर के और पराये नहीं। अतः इनसे बचने और काम लेने में भी सूझबूझ की अपेक्षा है।

समय और सत्संग का सुअवसर

मनुष्य जीवन निस्सन्देह एक वरदानी जीवन है। कहा भी है—"जो फरिश्ते कर नहीं सकते, उसे इन्सान करते हैं।" याने जो देवदूतों से भी नहीं हो सकता, उस काम को इन्सान अच्छी तरह से कर लेता है। आवश्यकता है सत्पुरुषार्थ के द्वारा समय के सदुपयोग की। बहुत से लोग ऐसे हैं, जिनको स्वस्थ शरीर, धनधान्य की समृद्धि, सत्संग और समय खाली मिलता है। वाणिज्य क्षेत्र में, राज्य द्वारा साप्ताहिक-अवकाश दिन मनाया जाता है। इनमें कोई विशिष्ट कार्य होना चाहिये। सत्शास्त्र के पठन-पाठन और धर्म-ध्यान की स्थापना से, समय को सफल किया जा सकता है। पर अवसर पाकर भी दिन भर हाय हाय करते रहे और संघ-समाज एवं देशहित का कोई कार्य नहीं कर सकते तो उन्हें क्या कहना चाहिये ?

बहुत से लोग ऐसे हैं जो छुट्टी के दिन और अधिक प्रमादी हो जाते। और दिनों में पांच बजे उठने वाले, अवकाश के दिन आठ नौ बजे उठते। और इधर-उधर घूमने में समय को गुज़ार देते। भला ! ऐसे बुद्धिमानों से आत्मसाधन और समाज सेवा की और क्या आशा की जा सकती ? बुद्धिमानों को सोचना चाहिये कि अवकाश काल में भी यदि शास्त्र, स्वाध्याय और पौषध आदि सत् क्रिया की आराधना नहीं कर पाये, आलस्य-प्रमाद में समय गंवा दिया तो कितना पश्चात्ताप होगा ? शास्त्र में भी कहा है—

जाजा वच्चइरयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥

अर्थात् जो जो रात्रियां जाती हैं, वे फिर लौटकर नहीं आतीं। अधर्माचरण करने वाले की रातें व्यर्थ जाती हैं। अतः प्रमाद को छोड़, समय का सदुपयोग करना चाहिये।

पुरुषार्थ से कर्म काटे जा सकते हैं

मनुष्य अपने मन में बसे आलस्य को निकालकर, जब पौरुष को जगाता है, चेतना में प्राणशक्ति फूँकता है, उत्साह एवं लगन को प्रदीप्त करता है, तो वह सब कुछ करने के योग्य हो जाता है। वास्तव में मनुष्य कोई भी अयोग्य नहीं है, हर व्यक्ति योग्य है, समर्थ है। एक कहावत भी है—"अयोग्यः पुरुषः नास्ति।" याने कोई पुरुष अयोग्य नहीं होता। जिसमें पुरुषार्थ की क्षमता है—योग्यता है, भला! वह अयोग्य कैसे रहेगा?

हम ही साधु बनने की और कर्म काटने की योग्यता रखते हैं और आप नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप में भी योग्यता है, औरों में भी है। आप भी इस मंच पर बैठ सकते हैं, प्रवचन दे सकते हैं, साधना कर सकते हैं, ब्रह्मचारी बन सकते हैं। आप भी योगी, साधु एवं त्यागी सब कुछ बन सकते हैं। परन्तु क्या कसर है फिर! आप आलस्य एवं प्रमाद से ग्रस्त हैं। आप चल सकते हैं और पुष्कर की घाटी पार करके, पुष्कर पहुँच सकते हैं। परन्तु कदम बढ़ायेंगे, चलेंगे तभी तो पहुँच सकते हैं। अगर एक कदम नहीं बढ़ायें तो यहाँ से बाजार तक पहुँचने का सवाल नहीं रहेगा।

ज्ञानियों ने कहा कि—मानव! तुमको मनुष्य भवरूप यह बहुत ऊँचा अवसर मिला है। अतः "उट्ठिए नो पमायए।" उठो और प्रमाद मत करो। भ० महावीर ने मानव-कल्याण की भावना से कहा—बहुत मुश्किल से एक-एक इन्द्रिय का विकास होता है। तेरे को तो पांच इन्द्रियां मन और दस बोलों की योग्यता प्राप्त हुई है। ऐसी स्थिति में गफलत या प्रमाद छोड़कर, कर्म काटने में, भव प्रपंच त्यागने में पुरुषार्थ कर। पौरुष करने से ही बेड़ा पार होगा। कर्म

बांधने का पुरुषार्थ तो अनन्तकाल से, बिना किसी के कहे और समझाये भी मनमौजी से करता रहा। इस प्रकार के पुरुषार्थ करते अनन्तभव और कालचक्र पूरे हो गए—दिन, महीने और सम्वत्सर की तो बात ही क्या ?

आलस्य शत्रु इतना बुरा है कि कर्म तोड़ने के मार्ग में लगे हुए को भी भटका देता है, पुरुषार्थ हीन बना देता है। संचित अशुभ कर्म के उदय हो जाने से, मानव आलस्यवश, नई साधना कर नहीं पाते और चालू की हुई में भी पीछे रह जाते हैं। भ० महावीर ने अपने पूर्वजन्मों के अनुभवों से बताया कि—यदि मानव सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करे तो वह भवसागर के किनारे पहुँचकर भी गोते खा जाता है—सब कुछ गंवा देता है।

विश्वभूति के रूप में प्रभु का चिन्तन

जरा भगवान् महावीर के सोलहवें भव की बात देखिये और उस पर विचार कीजिये। प्रभु ने कहा—जब मैंने विश्वभूति के रूप में एक राजघराने में जन्म पाया। उस समय परिवार की सुख समृद्धि को पाकर मुझे विषय कषायों में उलझने के बहुत मौके मिले थे। परन्तु पूर्वजन्म के संस्कार और पुरुषार्थ की सजगता ने मदद की। फलत: विशाखभूति भ्राता के द्वारा कपटपूर्वक आमोद-प्रमोद से रहनेवाले बगीचे से मैं हटाया गया। बाह्य निमित्त को देखते रागद्वेष बढ़ने का अवसर था। मगर मैंने क्रोध को ज्ञानभाव से मार दिया।

संचित कर्म अवसर पाकर उदय में तो सब को आता है। परन्तु ज्ञानी और अज्ञानी के भोग में अन्तर है। ज्ञानी उदय में आए कर्म को क्षण भर में काबू कर लेता और जहर के प्याले को अमृत समझकर पी लेता। अज्ञानी उसमें उलझ जाता है। ज्ञानी सोचता है कि मारना है तो क्रोध को मारो। बाहरी दुश्मन मारने से बढ़ते रहेंगे। उनको मारने से तुम्हारा भी मरण बढ़ेगा। किन्तु विकारों को मारोगे तो तुम अमर हो जाओगे। इस प्रकार

सद्‌विचार के प्रकाश में विश्वभूति ने सही सोचा और अप
क्रोध को भुला दिया।

नीति के विद्वानों ने ठीक ही कहा है—

"आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं, मन्त्र मैथुन भैषजम्।
तपो दानापमानञ्च, मतिमान् न प्रकाशयेत्

अर्थात् आयु, धन, घर का भेद, मंत्र, मैथुन, दवा,
और अपमान को प्रगट नहीं करना चाहिये। मगर इ
आसान नहीं होता! क्या किसी को कुछ दान देकर भू
या किसी ने मान दिया या तिरस्कार किया, तो क्य
जाओगे? संभव, सहसा उसे भूल नहीं पाओगे। और
गए तो जन्म-मरण का चक्कर ही छूट जायेगा। मनुष्य
और दर्शन की बात भूल जायेगा। बचपन में प्रतिक्रमण
धंधे में लगा तो पूछने पर कहता है कि महाराज! स
धन्धे की धुन में धर्म का ध्यान ही नहीं रहा। कहावत

"भूल गया राग-रंग, भूल गया चकरी।
तीन बातें याद रहीं, तेल, लोण, लकड़ी।

क्या करूं? माया का जाल एक बड़ा जंजाल है।
पर सब की होश खत्म हो जाती है। क्षमा करेंगे।

अभी व्याख्यान में जो कुछ भी उपदेश दिया, व
लक्ष्य करके ही दिया। मगर आश्चर्य है कि आप घड़
उसे भूल जाओगे। मेरे इन सारे कहे को अनकहा कर
पर विस्मृति का पानी फेर दोगे। परन्तु इसी व्याख
किसी ने उठने-बैठने या किसी अन्य प्रसंग पर, दो श
दिये तो क्या उन्हें भी भूल जाओगे? नहीं, हर्गिज नहीं
बांह की कमीज को ऊपर उठाते हुए, शेर की तरह दहा
व्याख्यान से बाहर चलो तो मजा बतायेंगे। इतना व
रहोगे। कदाचित् सामने वाला कमजोर रहा तो जैसे-
बदला चुकाने का प्रयत्न करोगे।

तो उपदेश की बात भूल गये और किसी के कहे प्रतिकूल दो शब्द भूल नहीं सके—सहन नहीं कर पाये ! ठीक ही कहा है किसी कवि ने—

"क्रोध न छोड़ा, लोभ न छोड़ा, सत्य वचन क्यों छोड़ दिया। प्रभु-नाम रटन क्यों छोड़ दिया........"

इस तरह भूलने की बात तो नहीं भूलते और नहीं भूलने की बात भूल जाते हो। कैसी उलटी दुनिया है ?

विश्वभूति का मनोनिग्रह

विश्वभूति ने चिन्तन करके क्रोध और वैर को भुला दिया। राजा और राजकुमार ने स्वार्थ-प्रेरित होकर जो धोखा दिया, तिरस्कार किया, वह यदि आज का व्यक्ति होता तो वर्षों न्यायालय में लड़ता रहता। परन्तु विश्वभूति ने मन को मोड़ लिया, और रानियों तथा भोगोपभोग योग्य धन-धान्यों को छोड़कर दीक्षित हो गया।

अगर वह अपनी हठ पर अड़ जाता तो क्या राजकुमार उसे बगीचे में नहीं रहने देता ? क्या नागरिक जनों के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में कोई उसे रोकता ? और भोगोपभोग में कोई उसे बाधा दे सकता था ? नहीं। परन्तु उसने समझा कि ये विषय-कषाय ही दुःख के कारण हैं। इनमें उलझा रहने वाला प्राणी कभी सुख और चैन से नहीं रह सकता है। इसी के कारण मेरे चाचा और भाई को मेरे साथ छल करना पड़ा। हाँ, तो पूर्ण मनोनिग्रह करके विश्वभूति, संभूतिविजय के पास दीक्षित हो किस प्रकार ज्ञान और क्रिया का आचरण कर रहे हैं, देखिए !

"विनय सहित गुरु सेवा में, तप साधन करते हैं,
मास क्षपण के पारण हित, मथुरा में आते हैं।
राज भवन में विशाखभूति, नगर निरखते हैं,
देख साधु को वैरस्मरण कर, रोष भराते हैं॥"

भ० महावीर की यह मंगलमयी जीवन गाथा जन-जन को आज भी उसी तरह शिक्षा देने वाली है। जरा इस पर मन से चिन्तन करें तो यह हमारे जीवन-निर्माण में सहायक सिद्ध होगी।

भोगकाल में योग का महत्व

मुनिव्रत में दीक्षित होकर एक हजार वर्षों तक विश्वभूति ने इन्द्रियों एवं मन की वृत्तियों को वश में किया। और उत्कृष्ट वैराग्य भाव से वे तप का साधन करने लगे। युवावस्था के भोग काल में, संसार के लोग, जब शब्द, रूप, रस गन्धादि के विषयों के लिए छटपटाते हैं, ऐसे समय में विश्वभूति पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, पंच महाव्रतों का पालन करते हुए, तपः साधना में तत्परता से जुट गए। जैसा कि कहा है—

"पंच महव्वय जुत्तो, पंचहि समिओ, तिगुत्ति गुत्तो य।
सब्भितर बाहिरओ, तवो कम्मंसि उज्जुओ।।"

समाज में कई ऐसे भी लोग हैं जो उम्र से परिपक्व हैं और कई बच्चे-बच्चियों के भी बाप-दादा हो चुके हैं। फिर भी अपनी पूरी अवस्था में भी वासना पर नियन्त्रण नहीं करें तो कितनी शर्म और दुःख की बात है ? तीस बत्तीस वर्ष की उम्र वाला नौजवान, जिसने कि सांसारिक सुख सुविधा का अनुभव नहीं किया। और वह कहे कि कुछ समय के बाद योग ग्रहण करूंगा तो समझा जा सकता है कि इसके अभी भोगावली कर्म विशेष बाकी हैं। परन्तु चिता के रथ पर चढ़ने वाले, वृद्धों के मन से वासना नहीं निकले तो उनके लिए फिर साधना का समय कब आने का ?

कोई भी व्यक्ति सब बातें सुनले और पढ़ले, परन्तु उसे क्रिया के रूप में परिणत नहीं करे तो क्या समझना चाहिये ? पढ़-लिखकर जिसने वस्तु का सम्यग्ज्ञान पा लिया तो उसे अपना रास्ता स्वयं तय करना चाहिये। यदि सब कुछ जानकर भी, कदम आगे नहीं बढ़ाता तो उसका सुनना और पढ़ना किस काम का ?

समय पर कार्य करना ही समझदारी है

कोई लड़का स्कूल में भर्ती होकर, वर्षों शाला का कोर्स पूरा करे, फिर भी घर की आवश्यकता और पिता के कहने पर नौकरी आदि नहीं करना चाहे तथा कहे कि मैं तो विद्यार्थी ही बना रहना चाहता हूं तो कैसा समझा जायेगा ? कोई अपनी जिम्मेदारी और दायित्व को नहीं समझ, सदा विद्यार्थी ही बना रहना चाहे तो उसके पढ़ने का क्या उपयोग समझा जायेगा ? क्या आप भी विद्यार्थी ही रहकर, जीवन गुजारना चाहते हैं या कोई व्यापार धन्धा भी पकड़ना चाहते हैं ! व्यापार धन्धे की तरह धर्ममार्ग में भी, साधना के मार्ग में भी आपको आगे बढ़ना चाहिये। समय का क्या भरोसा ? काल की क्या प्रतीति ? काले नाग के मुँह में दबे मेंढ़क की तरह मानव का जीवन है। काल कब मुँह बन्दकर खेल समाप्त कर दे, कह नहीं सकते। विद्वानों ने कहा है कि काल विविध रूप धर कर खेलता है। दिन रात, संध्या, प्रभात, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् आदि में काल क्रीड़ा करता और अंजलि के जल की तरह, आयु जा रही है, फिर भी नहीं चेते तो कब सम्भलेंगे ! जैसे कि—

> **"दिनमपि रजनी सायं प्रातः, शिशिर बसन्तौ पुनरायातः।**
> **कालः क्रीडति गच्छत्यायुः, तदपि न मुंचत्याशा वायुः ॥"**

आप समझते एवं कहते हैं कि महाराज ने सुना दिया और हमने सुन लिया। अपनी हाजिरी भर दी। बहुत से तो ऐसे हैं जो हाजिरी भी नहीं देते, सुनने सुनाने की तो बात ही क्या ? गांव में महाराज हैं, कभी दर्शन कर लेना ही पर्याप्त समझते हैं। उनका मन इसी में भरा हुआ है कि हमारे गांव में महाराज विराजमान हैं। यदि ऐसी स्थिति बनी रही तो जीवन का यह लम्बा मार्ग कैसे पार होगा ? क्योंकि समय थोड़ा और रास्ता लम्बा तथा वह भी अज्ञात एवं अस्वाधीन है।

साधना में गुरु सन्निधि आवश्यक

हजार वर्ष की उम्रवाले संयमी विश्वभूति ने सोचा कि संसार में जीव को रुलानेवाले—भटकानेवाले तो ये विषय-कषाय ही हैं।

यों तो जीवन को मोड़नेवाले अन्य भी कई कारण हैं, किन्तु विषय-कषाय में सबका समावेश हो जाता है। बाहर के कारण तो विषय हैं और अन्तर के कारण कषाय। इन दोनों को काबू में करने एवं वश में रखने के लिए साधना करनी चाहिये। बड़ी से बड़ी साधना गुरु के बिना ठीक नहीं होती। साधना की सफलता के लिए, अच्छे गुरु की देख-रेख आवश्यक है। कारण, बिना गुरु के साधक भटक जाता है—

"भटक मुआ भेदू बिना, कौन बताये धाम।
चलते चलते दिन गया, पाव कोस पर गाम॥"

एक छोटे से मंत्र की साधना करनेवाला भी, यदि अच्छे गुरु की सलाह के बिना, साधना में बैठ जाता है तो कभी-कभी लेने के देने पड़ जाते हैं। जब छोटी-सी साधना में भी गुरु की सन्निधि चाहिये तो जन्म-मरण की बेड़ी को काटनेवाली साधना में, भव-भ्रमण मिटानेवाली साधना में, कितने बड़े त्यागी और ज्ञानी सद्‌गुरु की सन्निधि आवश्यक होनी चाहिये।

दोनों भाइयों का मथुरा में मिलन

इसी विचार से विश्वभूति ने संभूतिविजय आचार्य के चरणों में, दीक्षा अंगीकार की। और वे उनके सान्निध्य में साधना और इन्द्रियों पर विजय करते हुए तपाराधन करने लगे। मास क्षपण तप के साथ विहार भी करते और साधना भी करते। गृहस्थ साधना करता है अपने घर में बैठे और साधु साधना करता है, ग्राम, नगर, पुर, पाटन में विचरण करते। वह घूमते हुए कभी नगर में कभी जंगल में और कभी पहाड़ों की गुफा में चला जाता है। विश्वभूति इसी प्रकार तप करते-करते एक समय घूमते हुए मथुरा नगरी आ पहुँचे। विश्वभूति जब मास क्षपण तप के पारणे में मथुरा नगरी में घूम रहे थे, उस समय विशाखभूति भी वहीं था वह किसी शादी के कारण से आया हुआ था। उसके नौकरों ने बाजार में घूमते हुए

मुनि को देखा और राजा को सूचना दी। उसने स्वयं झरोखे से नगर का अवलोकन करते मुनि को देखा और पहचान लिया।

दर्शन मात्र से वैरभाव की जागृति

विश्वभूति को देखते ही विशाखभूति की स्मृति में वैर भाव सजग एवं तीव्र हो उठा। अज्ञानी कर्म बन्धन काटने के साधनों को भी कर्म बाँधने का साधन बना लेता है। साधु के दर्शन जो पुण्य-बंध और कर्म निर्जरा का साधन है, उनसे राग-द्वेष के भाव जागृत करना यह कर्म काटने के साधन से कर्म बांधना ही तो है! विशाखभूति के लिए यही हुआ। वह साधुरूप में भी अपने भाई को देखकर, राग-द्वेष के विचारों में, चक्कर खाने लगा। वैर की ठंढ़ी पड़ी आग उसके मानस में धू धू कर जलने लगी। मुनि को क्या देखा, मानो क्रोध की ज्वाला में अपने आपको जला बैठा।

यद्यपि मुनि विश्वभूति, भाई विशाखभूति के वैर को भूल चुके थे। याद तो उन्हें ही आनी चाहिये थी। कारण विशाखभूति के चलते ही उनको समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं से विलग होना पड़ा और यह साधुता स्वीकार करनी पड़ी थी। मगर उन्होंने तो विशाखभूति के किए गए अपकार को भी आत्महित में उपकार मान लिया। मन से सब कुछ छोड़ देने पर उन्हें विशाखभूति का भय और वैर क्या होता! परन्तु मुनि के बदले उलटे विशाखभूति ही तवे की भांति मन ही मन जल रहा था। सच है, अज्ञान ही मनुष्य को भटका देता है। बुद्धि विपरीत कर देता है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए, सत्संग और स्वाध्याय का विधान है। सत्संग पर के कल्याण का कारण और स्वाध्याय अपनी आत्मा के कल्याण का कारण होता है। स्वाध्याय दूसरे के मन को नहीं जगाता। परन्तु गुरु या साधु से सुनकर, और पाव घड़ी एकान्त में बैठकर जब व्यक्ति चिन्तन करता और अपने अन्तर में झांक कर देखता कि मुझमें यह कमी है तो वह अपनी आत्मा को तार देता है। आवश्यकता है कि हम इसके लिए आलस्य या प्रमाद को त्याग कर पौरुष का सहारा लें।

दूसरे के भरोसे रहना भारी भूल

एक लघु कथा आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। यदि आप उस पर गौर करेंगे तो यह आपके जीवन को सुधारने में सहयोगी बन सकती है। उज्जैन में, सोमदेव नाम का एक पंडित रहता था। बुढ़ापे में अचानक उसकी नजर जाती रही। वह अंधा हो गया। उसकी यह दशा देखकर, उसके कुछ कुटुम्बीजनों को बड़ी चिन्ता हुई। उसके आठ लड़के और आठ ही बहुएं थी। लड़कों ने कहा—पिताजी ! आपकी आज्ञा हो तो हम सब आपकी आंखों का आपरेशन करा देते हैं। इससे आपको दिखने लगेगा। इस तरह आप अपना सब काम पहले जैसे स्वयं करने लगोगे।

परन्तु सोमदेव को यह बात पसन्द नहीं आयी। उसने कहा—पुत्रो ! मेरे कर्मोदय से ही आंखें चली गयीं। अगर आपरेशन के बाद भी फिर बिगड़ गयीं तो क्या होगा ? मुझे तो तुम सबकी आंखों का भरोसा है। अपनी आंखों के लिए व्यर्थ श्रम की क्या आवश्यकता ? अपनी होगी भी तो मात्र दो ही आंखें होंगी और तुम सबकी तो बत्तीस हैं। इस तरह सोमदेव ने उन लड़कों के बहुतेरे कहने पर भी, आंखें नहीं बनवायीं। एक बार अकस्मात् उस गांव में आग लग गई। आग लगते ही सारी नगरी में भगदड़ मच गई। अपनी-अपनी जान बचाने के खातिर सब वहां से भाग गए। परन्तु पंडित सोमदेव अंधा होने के कारण अटक गया—भाग नहीं सका। उसको विश्वास था कि बेटे जान बचाने को आएंगे। परन्तु कोई भी नहीं आए और उसको अपनी जान गंवानी पड़ी। उसके बेटे और बहुओं की आंखें, जिस पर कि वह पूर्ण भरोसा रखता था, समय पर काम नहीं आयीं। वे सोमदेव को अग्नि देवता की भेंट होने से बचा नहीं पायीं।

हमारे बहुतेरे भक्त ऐसे हैं, जो सोमदेव की तरह समझ बैठे हैं कि हमें तो महाराज हैं। जब महाराज स्वयं ज्ञान की गंगा घर में बहा रहे हैं, तो मैं स्वाध्याय में श्रम क्यों लगाऊं ? हम तो अपने ज्ञानी-गुरु के सहारे बैठे हैं। हमारे तो महाराज की आंखें हैं, फिर

हमें क्या चिन्ता है। जो स्वयं स्वाध्याय करता है, वह बेभरोसा बनकर आंखें बनाता है और जो महाराज की आंखों पर निर्भर रहते हैं, वे सोमदेव की तरह बड़ी भारी भूल करते हैं और अपने जीवन के साथ भयंकर खिलवाड़ करते हैं।

तो याद रखो, जैसे दूसरों पर भरोसा रखकर सोमदेव को भस्मीभूत होना पड़ा, वैसे ही संसारी आदमी भी स्वाध्याय से विमुख होकर, अपने ज्ञान चक्षु से वंचित रहते हैं और जन्म-मरण का चक्र बढ़ा कर अपने को बन्धन में डाल लेते हैं। जो अपने जीवन में स्वाध्याय करेंगे, धर्मसाधना में कदम बढ़ायेंगे उनका लोक एवं परलोक दोनों में कल्याण होगा।

●●

१२

अशान्ति का मूल : क्रोध और लोभ

असमाधि और उसके भेद

बन्धुओ ! अभी आपके सामने दशाश्रुत स्कन्ध का प्रसंग चल रहा है। उसके पहले अध्याय में भगवान् ने फरमाया है कि मानव के मन में असमाधि किन-किन कारणों से पैदा होती है? मन की अशान्त और चंचल स्थिति को असमाधि कहते हैं। असमाधि की दशा में मानव किसी भी काम को मन लगाकर नहीं कर पाता। कारण उसके मन में चंचलता और अशान्ति रहती है। अतः शास्त्र-कार ने असमाधि से बचने की शिक्षा दी है।

असमाधि के कुछ बाहरी कारण होते और कुछ भीतरी कारण। कांटा, कील, दंड प्रहार आदि बाहरी और राग-रोष कलहादि आन्तरिक कारण, कभी असमाधि के हेतु हो भी सके और कभी नहीं भी बने। बाहरी कारण से होनेवाली असमाधि प्रायः तन तक ही सीमित रहती है। परन्तु भीतरी कारण, तन, मन दोनों पर असर करते हैं—प्रभाव डालते हैं। भ० महावीर ने इन दोनों प्रकार की असमाधियों का प्रथम अध्याय में विचार किया है। और साधक को इस बात के लिए सावधान किया है कि यदि वह असमाधि तथा असमाधि के कारणों से बचेगा, तो साधना में सरलता से आगे बढ़ सकेगा।

असमाधि के दो प्रकारों में एक को द्रव्य असमाधि तथा दूसरे को भाव असमाधि कहा गया है। अभी प्रस्तुत प्रसंग में मुनिजी ने भाव असमाधि का नमूना प्रस्तुत करते हुए, अपने कथन के प्रसंग में दो बातें बतायीं—"कोहणे और संजलणे।" यों तो दोनों एक ही हैं,

परन्तु कषाय के भेदों के साथ दो बताये गये हैं। ये दोनों भाव असमाधि के कारण हैं। हम करीब-करीब द्रव्य असमाधि से बचने की बड़ी चिन्ता करते हैं। कभी पेट में दर्द हो गया, कभी सिर में दर्द हो गया, कभी चलते-चलते ठोकर लग गई, कभी पैर में कांटा लग गया तो उसका हमारे मन को बड़ा ख्याल आता है। और सोचते हैं कि इस पीड़ा को, दर्द को—वेदना को, किस तरह जल्दी से रफ़ा-दफ़ा किया जाय—किनारा लगाया जाय।

द्रव्य से भाव-असमाधि बड़ी

परन्तु सोचने की बात है। भगवान् महावीर कहते हैं कि मानव! यह बाहरी असमाधि तो कुछ भी नहीं है। जबकि तू इस असमाधि को इतना बड़ा महत्व का रूप दे रहा है और इसके लिए बड़ी चिन्ता कर रहा है तथा हाय-हाय मचा रहा है। अरे! यह बड़ी असमाधि नहीं है। बड़ी असमाधि तो कोई दूसरी है। जिस ओर तू लक्ष्य ही नहीं कर रहा है। वह असमाधि विकारों की है, कषायों की है। यदि क्रोध मन में जाग रहा है, मान जाग रहा है, माया का जाल मन के भीतर बिछ रहा है अथवा लोभ सता रहा है या कुछ ऐसे ही दूसरे विकार खड़े हो रहे हैं—इन विकारों की ज्वालायें उठ रही हैं तो जल्द सावधान हो जा। ये बड़ी असमाधि के कारण हैं। इनसे होनेवाले पतन या सर्वनाश को सहसा कोई नहीं बचा सकता।

इनको रोकने का, समाप्त करने का प्रयत्न करो। ये सारी भाव असमाधियाँ हैं। ये असमाधियाँ कब किसको, किस तरह पछाड़ देती हैं, इसके लिए शास्त्रों में अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। जिनमें भाव असमाधि के कटुक फल का चित्रण किया गया है। इनमें से एक उदाहरण आपके सामने चल रहा है और वह है भ० महावीर के पूर्वभवों में सोलहवें विश्वभूति के भव का।

भ० महावीर ने अपने पूर्वभवों में छोटी बड़ी साधना करते हुए, जीवन को ऊपर उठाया, साधना के अनुकूल सामग्री उपलब्ध

की। पहले खूब अटकाया और भटकाया भी। साधना जब ज्ञानभाव में चलती है तो भटकना रुकता है। और अज्ञानभाव में चलती है तो भटकना बढ़ाती है। महावीर कहते हैं कि कर्मों का फल, किसी व्यक्ति विशेष के साथ पक्षपात नहीं करता है। कर्म के सामने कोई छोटा या बड़ा हो, अमीर या गरीब हो, राजा या रंक हो, चाहे कोई अवतारी होनेवाला भी क्यों न हो, परन्तु कर्मों का फल उन्हें भी भुगतना पड़ता है। इसलिए समझदारी इसी में है कि कर्मों का बँध करते सावधान रहो। यदि बंध करते सावधानता नहीं रक्खी—चूक गये तो उनका परिणाम भयंकर हो सकता है।

साधना के दो शत्रु—क्रोध और लोभ

बन्धुओ ! आपको पूर्व का कथन ध्यान में होगा कि विश्वभूति ने अपने सामने आये हुए, सांसारिक प्रतिकूल वातावरण और भाई के द्वारा किये कपटपूर्ण व्यवहार को सहन कर लिया। उन्होंने इसके लिए विशाखभूति राजकुमार से लड़ाई नहीं की, झगड़ा नहीं किया। घटित घटना से उग्ररूप धारण करने के बजाय, अपनी उग्र वृत्तियों का शमन कर लिया। आचार्य संभूति विजय के चरणों में, साधना करते हुए, वे कर्म काटने में लग गये।

परन्तु देखा जाता है कि कभी-कभी आगे बढ़ने के संयोग, प्राणी के लिए प्रतिकूल भी बन जाते हैं। कहा गया है कि उन लुभानेवाले और साधक को बीच में रोकनेवाले भावों में दो प्रमुख शत्रु हैं—बाधक हैं, क्रोध और लोभ। नीतिकारों ने भी कहा है कि—"क्रोध लोभाद् विनश्यति।" याने क्रोध और लोभ से धर्म नष्ट होता है। धर्मरूपी कल्पतरु सत्य से पैदा होता है, दयादान से बढ़ता है, क्षमा से कायम रहता और क्रोध लोभ से नष्ट हो जाता है। जैसा कि कहा है—

> "सत्येनोत्पद्यते धर्मः, दयादानेन वर्धते।
> क्षमया च स्थाप्यते धर्मः, क्रोध लोभाद् विनश्यति॥"

आप उपवास आदि तपस्या कम कर सकें या ज्यादा कर सकें, यह आपकी शारीरिक अनुकूलता पर निर्भर है। परन्तु आप तपस्या करने के साथ-साथ इस तपस्या को भी ध्यान में रखें कि मैं क्रोध लोभादि विकारों पर, जो अपने को हानि पहुँचानेवाले हैं, नियन्त्रण कर रहा हूं या नहीं ? यदि हम बाह्य तपस्या करने में हो रहे और इस बात को भूल गये। दिमाग की उत्तेजना को नहीं रोका एवं मन के प्रलोभनों में युग की हवा की तरफ ही बहते गये और ईर्ष्या एवं रोष आदि को शमन नहीं किया तो हमारी तपस्या जो फलवती होनी चाहिये, कर्म काटनेवाली होनी चाहिये, भव बन्धनों से बचानेवाली होनी चाहिये, वह सार्थक नहीं बन पायेगी—भव बन्धन को नहीं काट सकेगी। प्रत्युत भव बन्धनों में और जकड़ा देगी।

इसलिए असमाधि की चर्चा के प्रसंग में, भगवान् ने कहा कि मानव ! तू संज्वलन क्रोध में जलता रहा, बात-बात में उबलता रहा, तो तुम्हारे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके गुण भीतर ही भीतर, भस्म होते जायेंगे—जलकर खाक़ हो जायेंगे। फिर तो तुम्हारा सारा किया कराया व्यर्थ हो जायेगा। फलस्वरूप तुम्हें भयंकर मानसिक अशान्ति होगी। इसलिए प्रभु ने कहा कि पहले इस बड़ी असमाधि से दूर रहो।

क्रोध से बचने का उपाय

भाव असमाधि अर्थात् क्रोध से बचने का एक रास्ता तो यह है कि जिस किसी निमित्त को पाकर आपके मन में क्रोध उत्पन्न होता हो, उससे अलग हो जाओ—दूर हो जाओ। यदि वहां खड़े रहोगे तो आपके मन में, उत्तेजन बढ़ेगा। आवेश में कभी कुछ बोल दिया तो दोनों ओर के मुकाबिले से झगड़ा हो जायेगा। अतः जितना शीघ्र संभव हो, उस स्थान से दूर हो जाओ। दूसरा उपाय है, हटने के साथ दांत बन्द कर लो—मुंह बन्द कर लो अर्थात् किसी को कुछ भी जवाब मत दो। मन ही मन यह सोचो कि मैं गूंगा और बहरा बन

गया हूँ। मुझे कुछ देर तक भगवान् का ही नाम स्मरण करना है। ऐसा सोच कुछ समय तक मत बोलो।

यदि क्रोध आपको आया और आप उस निमित्त से दूर हो गए और दूसरे नम्बर का उपाय भी आपने काम में लिया तो आप उस क्रोध की आग में भस्म होने से बच जाएंगे। साधनाशील व्यक्ति को, शान्ति के पुजारी को, इस ओर बड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है। जो इस ओर ध्यान रखकर साधना करता है, उसकी छोटी साधना भी बड़ी बलवती हो जाती है।

आपने पर्यूषण पर्व के दिनों में, कल्पसूत्र में, ऐसा उदाहरण भी सुना होगा कि क्षुधा परीषह को सहन नहीं करने वाले, एक क्षुल्लक साधु ने, सम्वत्सरी के दिन भी उपवास नहीं किया और कहीं से लूखी खिचड़ी ले आया। उसे वह खिचड़ी दिखाने पर, अन्य साथियों से तिरस्कार भरे भावों में, उपालम्भ के शब्द सुनने पड़े और उसमें थूक भी दिया गया। परन्तु उसने किसी पर क्रोध नहीं करते हुए भोजन में घी समझकर उस खिचड़ी को खा लिया। पश्चात् उसने अपनी आत्मा का अवलोकन किया और गलतियों के लिए धिक्कारा। इस प्रकार धिक्कारते-धिक्कारते ही उसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। इसमें ऐसी क्या बात थी ? तो उसने असमाधि के बजाय, समाधि का उपाय सीख रखा था।

गाय की टक्कर और राजा की हंसी

मास खमण के पारणे को, गोचरी में घूमते हुए विश्वभूति के कृश और दुबले शरीर को देखकर राजा के मन में पूर्व का वैरभाव जग गया—जैसा कि आप सुन चुके हैं। न मालूम किसके कितने जन्म हैं और कौन कब, किसके प्रति, किसलिए कषाय बढ़ाता रहता है ? उसका निर्णय साधारण आदमी के वश की बात नहीं है। विशाखभूति, मुनि विश्वभूति को देखकर, वैरभाव से जलने और उबलने लगा।

इधर तो उसका रोष करना और उधर मुनि को, भीड़ से चौंक कर एक गाय ने टक्कर मार दी। गौकी टक्कर से मुनि बीच सड़क पर धराशायी हो गए। यह दृश्य देखकर राजा का दिल बाग बाग् हो गया—बांसों उछलने लगा। उसे उस समय जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह पूर्व के प्राप्त सभी आनन्दों से बढ़कर था। नीतिवचन है कि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥

चलते हुए कभी कोई आदमी असावधानी से ठोकर खाकर गिर जाता है, तो दुर्जन उसे देखकर हंसते हैं। परन्तु सज्जन पुरुष उसका समाधान करते—यथायोग्य सेवा शुश्रूषा करते हैं। और उसके इस आकस्मिक पतन पर चिन्ता व्यक्त करते हुए सम्वेदना प्रगट करते हैं।

आज भी कदाचित् कोई आदमी प्रमाद वश या अन्य किसी कारण से गिर पड़े, तो कुछ आदमी हंसेंगे और बोलेंगे कि हां, ठीक हुआ। आंख मींचकर चलने वालों को ऐसा ही मजा मिलता है। कुछ को यह हंसी अच्छी नहीं लगेगी और वे उस गिरने वाले को, दिलासा देते हुए कहेंगे कि भाई साहब ! आपने तो पूरा ध्यान रखा, मगर यहां की भूमि ही ऐसी है। खैर, आगे से संभलकर चलिए, और चोट पर पट्टी बंधवा लीजिए। इस तरह एक ही घटना पर, सज्जन और दुर्जन दोनों की दो मनःस्थितियां देखी जाती हैं।

राजा का वैरभाव तो था ही, परन्तु गाय ने मुनि को गिरा दिया, यह देखकर उन्हें जोरों की हंसी आ गई। जैसे कहा कि—

"सहसा गौ की टक्कर से, मुनि भू गिर जाते हैं।
देख भूप खुश हो मुनिवर की, हंसी उड़ाते हैं ॥"

गौ की टक्कर से जब मुनि गिरे तो कुछ आदमी विचार करने लगे कि अरे ! गुरु महाराज को गाय ने पटक दिया। आओ इन्हें यहां से अलग करें।

क्रोध को सहना सरल नहीं

विशाखभूति ने जब झरोखे से, गाय की टक्कर से गिरते हुए मुनि को देखा तो वह बोलने लगा-ओ हो ! ये तो अपने पौरुष के आगे, किसी को कुछ समझते ही नहीं थे । कभी द्वारपालों से भी बोलते थे कि चाहूँ तो कपित्थ फल की तरह, तुम्हारे सिर को भी धड़ से अलग कर दूं । तो क्या यही इनकी जवांमर्दी का हौसला है, जो एक साधारण गाय की टक्कर भी बर्दाश्त नहीं कर सके ।

विशाखभूति ने जब विश्वभूति मुनि की, इस तरह हंसी उड़ाई—चुटकी ली और व्यंग्य वचन कहे तो मुनि को गाय की टक्कर से जो चोट नहीं पहुँची, उससे भी अधिक गहरी ठेस लगी । अन्तर्मन में क्रोध भड़क उठा । साधना के पौरुष पर किया गया यह कुटिल प्रहार, सुप्तभावावेश को जगा दिया और वे क्रोध से भर उठे ।

भगवान् महावीर ने दसवैकालिक सूत्र में कहा है कि— दुर्वचन के प्रहार कान में पड़कर मन को दूषित करते हैं । जो जितेन्द्रिय और शूर साधक धर्म समझ कर, उनको सहन करता है, वही पूज्य और उत्तम है । शास्त्र कहता है—क्रोध को गालिये, तर्जना को सहन कीजिए, जो कि मानव हृदय के लिए कांटे के समान है, शूल के तुल्य है । बाहर का कांटा सहना आसान है । परन्तु अन्दर के कांटे को सहना बड़ा कठिन है । लेकिन जो इन्हें सहन कर लेता है, वही श्रेष्ठ है । साधना की दो दशायें हैं, एक प्रमत्त और दूसरी अप्रमत्त । हम साधक लोग जब प्रमाद भाव में आ जाते हैं, तो हमारा ज्ञान हल्का हो जाता है । उस समय हमारे ज्ञान की ज्योति मन्द पड़ जाती है । ज्ञान यदि मन्द और मलिन हो गया तो उसकी शक्ति एवं तेजस्विता भी कम हो जाती है ।

विश्वभूति क्रोध के वश में

विश्वभूति गिरने से जरा आर्तभाव में थे । उस समय अचानक यह आवाज कान में पड़ी और दिल में तीर की तरह चुभ गई ।

शास्त्र में ठीक ही कहा है कि—"दुर्वचन के दुरुद्धर कांटे वैरानुबन्धी और अतिशय भयंकर होते हैं। उसने आंख उठाकर ऊपर देखा तो विशाखभूति दिखाई पड़ा। मन में वैर जागृत हो गया। ओ हो ! यह मेरा पीछा अभी भी नहीं छोड़ रहा है। संसार दशा में मुझे हैरान कह रहा था, तब तो मैंने संसार छोड़ा। राजभवन व प्रिय परिवार का परित्याग कर साधु बन गया। अब भी यह मेरा पीछा कर रहा है। अतः मुझे भी इसको इसका प्रतिफल बताना चाहिये। सहने और बर्दाश्त करने से बात आगे बढ़ी हुई है।

यद्यपि मुनि की दीर्घकालीन तपस्या बड़ी थी। परन्तु उस बड़ी तपस्या में आया हुआ, यह छोटा-सा रोष का भाव, मनोभर दूध में कांजी का काम कर गया। मुनि के मन में, यह कलुषित भाव आया कि मैं तपस्या से कमजोर भी हो गया हूँ, फिर भी तुमसे भिड़ सकता हूँ, मजा चखा सकता हूँ। शेर कमजोर भी हो जाये, तो भी सियार से कम तो नहीं होता। कहावत प्रसिद्ध है—"टूटा तो टोडा—और भागी तो गुजरात" टूटा हुआ भी टोडा कुम्हार के बंडेरों के लिए तो काफी है।

मुनि ने मन ही मन कहा कि मुझको कमजोर समझकर क्यों हँस रहा है ? मेरे बल को देख ! ऐसा कह चट से गाय के सींग पकड़े और उसको ऊपर उठाकर घुमा दिया। देखनेवाले चकित हो गए। सब कहने लगे—क्या पौरुष है इनका ! शरीर तो ऐसा दिख रहा है कि हवा के झोंके से गिर जाये। परन्तु अभी भी इनमें इतनी ताकत है ! मुनि ने भावावेश में ही कहा कि मत समझना कि मैं तपस्या कर रहा हूँ और दुर्बल हो गया हूँ। नहीं ! नहीं !! अब भी मुझमें वही ताकत है। मैं तुम्हारे लिए काफी हूँ। परन्तु तपी हूं, साधु हूं। इस प्रकार तपस्वी मुनि क्रोधवश आत्मभान भूल गये।

वैर का बदला वैर से नहीं

क्रोध में भान भूलकर न जाने मुनि क्या से क्या चिन्तन कर गए और बोल गए। उन्हें क्रोध ने इस तरह झकझोर दिया कि वे

मुनि प्रकृति से बहुत दूर हट गए थे। जब थोड़ा भान आया तो उन्होंने सोचा—अरे ! मैं तो मुनि हूँ। कोई कुछ भी कहे—पृथ्वी के समान मुझे सब कुछ सह लेना चाहिये। क्रोध से तो मेरी, वर्षों संचित तपस्या और साधना भस्म हो जायेगी। क्या कभी आग से आग बुझती है? क्या वैर से वैर का बदला लिया जा सकता है? जाओ हमने तुमको क्षमा कर दिया। तुम मेरी कल्याण साधना में अन्तराय बने। अब मैं फिर से अपने साधना पथ का पथिक बनने जा रहा हूँ। यह कहकर वे वहाँ से चले गए और अपनी तपःसाधना में पूर्ववत् लग गए। परन्तु लगे दोषों की शुद्धि नहीं की।

आप बहुमूल्य उज्ज्वल कपड़ा पहनते हो, तो उस पर धब्बा लग सकता है। यह सम्भव नहीं कि उस पर कभी गन्दा धब्बा लगे ही नहीं। धब्बा लगना उतना बुरा नहीं जितना कि उस धब्बे को दबाए रखना बुरा है। ऐसे ही साधक के संयमी जीवन पर दोष लगे ही नहीं, यह सम्भव नहीं। तपस्वी मुनि को निमित्त मिला, उत्तेजना आई और बोल गए। परन्तु उसकी आलोचना करके, पश्चाताप की आग में, कषाय के मैल को धो लेते तो भटकते नहीं, किन्तु वे धोना भूल गये।

शुद्धि के प्रकार

भगवान् महावीर ने कहा कि साधक ! साधना करने वाले से, आराधना के रास्ते चलते चलते भी विराधना-व्रत में चूक हो सकती है। विराधना के भय से कोई अराधना के रास्ते ही नहीं चले तो यह ठीक नहीं। चलने वाला मार्ग से इधर-उधर हो जाय तो उसको रास्ते लगाना सरल है। ऐसे साधना मार्ग पर चलते कोई गल्ती हो जाये तो उसे कहा जायेगा कि पश्चात्ताप करो और भूल का प्रायश्चित्त कर शुद्धि कर लो।

शुद्धि के दस प्रकार हैं। "आलोयणा" गुरु के सामने दोषों को प्रकट करना, यह शुद्धि का पहला उपाय है। दूसरा "पडिक्कमणे"

मिथ्या दुष्कृत देकर दोष के लिए, पश्चात्ताप करना। याने फिर ऐसी गल्ती नहीं करूंगा" कहकर "मिच्छामि दुक्कडं" देना। तीसरा आलोचना करके बाद में गुरु के सामने मिथ्या दुष्कृत स्वीकार किया जाये। इसका नाम तदुभय है। चौथा विवेक प्रायश्चित्त है। जैसे किसी त्याग की हुई वस्तु का भूल से ग्रहण हो गया। फिर स्मरण आते ही उसको तत्क्षण त्याग देना, यह विवेक प्रायश्चित्त है।

हम साधुओं के लिए कहा गया है—कि अगर कोई वस्तु साधु के लिए बना कर देवें और मालूम हो जाये कि वह हमारे लिए बना है तो पहले तो उसे लेना ही नहीं। यदि कभी अनजान में ले लिया तो मालूम होते ही उसे परठ देना। चाहे वह वस्तु कितनी भी अच्छी से अच्छी क्यों न हो। यह प्रायश्चित्त है आधाकर्मी आदि भोजन का।

पाँचवी बात है, भावों में कुछ मलिनता आगई। सपनों में कुछ विकार आ गए तो इसके लिए कहा गया कि नींद भंग होने पर, कायोत्सर्ग करो, "लोगस्स" का स्मरण करो। इस तरह से शुद्धि के पांच उपाय हो गए। इसके बाद तप के लिए कहा गया, विशिष्ट दोषों की शुद्धि के लिए तपस्या की जाती है, एकाशन, उपवास, वेला आदि। इनसे भी दोषों की शुद्धि होती है। एक 'छेदार्ह' होता है। इसमें दीक्षा पर्याय का समय छेद-कम कर दिया जाता है। आठवें में "मूल" है अर्थात् मूल से ही दीक्षा दी जाती है। अगर श्रावक है तो उसे फिर से व्रत स्वीकार करवाया जावे। नवमें और दसवें में भी फिर से दीक्षा दी जाती है। इस भाँति दस प्रकार से पापों की शुद्धि की जाती है।

आलोचना बिना मृत्यु

विश्वभूति की तपस्या में जो दोष आ गया—कषाय की कालिमा लग गई, उसका यदि वे आलोचना-प्रायश्चित कर लेते, प्रतिक्रमण कर लेते, तो दोषों की शुद्धि हो जाती। परन्तु सावधानी रही नहीं और घंटी बज गई—कूच का नगाड़ा बज गया। काल की घंटी तो सबकी बजेगी। सावधान रहेंगे तब भी बजेगी और

असावधान होंगे तब भी। पर जो यह सोचकर कि अभी तो बच्चों को संभाल लें, फिर करेंगे। ऐसे को अचानक रवाना होने का समय आ गया और आत्मा के मैल को नहीं धोया तो मलिन मुख बने, खाली हाथ जाना पड़ेगा। मुनि विश्वभूति की भी यही दशा हुई। उनका एक हजार वर्ष का साधुपन और संयम पालन, बिना आलोचना प्रायश्चित्त के, काल-धर्म को प्राप्त कर लेने पर, व्यर्थ बन गया। फिर भी मनयोग, वचनयोग और काययोग की शुभ प्रवृत्ति तथा करनीबल से, वे सातवें महाशुक्र नाम के देवलोक में उत्पन्न हुए।

विश्वभूति के व्यवहार से शिक्षा

विश्वभूति ने दीर्घ काल तक दीक्षा-पालन की। उनके जीवन में भटकने का मौका क्यों आया? उत्तर स्पष्ट है कि अन्त समय में उन्होंने अपने अशुभ भावों की आलोचना किये बिना ही कालधर्म प्राप्त किया।

भगवान महावीर ने कहा—भव्यो! संसार-चक्कर में घूमते हुए मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि तुम अनशन करो या नहीं करो, परन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ को जरूर मारो। उनको मारने के लिए तप का सही उपयोग करो। साधना में अपने आपको इस ओर बढ़ाओगे तो भव-भव के चक्कर से मुक्त हो जाओगे तथा अनन्त अनन्त काल के लिए आनन्द और कल्याण की प्राप्ति हो सकेगी।

अब विश्वभूति किस तरह जीवन में आगे बढ़ता है तथा भविष्य में कैसे आगे आयेगा, इस पर यथा-अवसर विचार किया जायेगा। आप लोग भी यदि व्रत, नियम स्वीकार कर साधना के क्षेत्र में, सावधानी से आगे बढ़ सके तो उभय लोक में शान्ति और आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।

••

१३

आत्मरोग और ज्ञानगुटिका

साधना और असमाधि

वन्धुओ ! दशाश्रुत स्कंध सूत्र के असमाधि अध्याय में, भगवान् ने बताया है कि साधक समाधिभाव-चित्त की शान्त दशा में ही साधना कर पाता है। असमाधिभाव साधना के लिए बाधक होता है। व्रत नियम की असमाधिभाव में सफल साधना नहीं होती।

साधना का उद्देश्य, असमाधि को टालना, समाधि को बढ़ाना है। समाधि को यदि दूसरे नाम से कहें तो वह शान्ति या स्वस्थ मनोदशा है। मन की शान्तता एकाग्रता ये समाधि के पर्यायवाचक शब्द हैं। असमाधि—मानसिक चंचलता, साधना के लिए बहुत बड़ी वाधा है, विघ्न है।

साधक के मन में यदि शान्ति हुई, मन स्वस्थ रहा, एकाग्रता बनी रही तो ये साधना को आगे बढ़ाने में, बड़े सहायक और पोषक सिद्ध होते हैं। परन्तु अनादिकालीन संचित कर्मों का जो उदय है, वह समय-समय पर साधक को अवरोध करता, असमाधि में—अशांति में डालकर, साधना के पथ से दूर कर देता है। इससे साधक की गति रुक जाती तथा मन विचलित हो उठता है। वस्तुतः यह असमाधि कैंसर की तरह, एक बहुत बड़ी व्याधि है—भवरोग है। जिसके मिटे बिना सच्ची शान्ति कभी संभव नहीं होती।

ज्ञान से समाधिभाव

साधना में असमाधिरूप विघ्न उत्पन्न नहीं हो, इसके लिए प्रभु ने कहा कि—मानव ! जीवन-यात्रा में, जहां भी, जब भी जाओ, ज्ञानभाव को साधनरूप में साथ लेकर चलो। ज्ञानभाव का साधन

साथ होगा तो विघ्न आकर भी कभी सता नहीं पायेगा। तुम समय पर उसका निवारण कर सकोगे—दूर करने में समर्थ हो सकोगे। जैसे प्रदीप लेकर चलने वाले लोगों को, अन्धकार में भटकना नहीं पड़ता, वैसे ज्ञान, अपेक्षित काल में तेरी सहायता करेगा।

संसार में कभी-कभी ऐसे लोग भी देखे जाते हैं. जिनको नित्य दवा साथ में लेकर चलना पड़ता है। ऐसे लोग बहुत मिलेंगे और प्रायः घर-घर में मिलेंगे। परन्तु ऐसे भी मिलेंगे, जो जरूरत पड़ने पर भी महीने, दो महीने और सालभर में कभी दवा लेते हैं! मगर ऐसे लोगों की संख्या कम है, अंगुलियों पर गिनने के लायक है। अधिक तो ऐसे ही मरीज हैं. जो दवा साथ में लिए बिना, घर से बाहर निकल ही नहीं सकते हैं। सम्पत्तिवाले तो कई ऐसे भी श्रीमान् हैं, जो दवा के साथ-साथ डाक्टर को भी हरदम साथ लगाये रखते हैं। उन्हें हर समय, बात-बात पर सूई लेनी पड़ती है। वे समझते हैं कि न जाने कब उन्हें ब्लडप्रेसर ऊंचा या नीचा हो जायेगा। ऐसे ही सांस या दमे के मरीज भी अपनी जेब में, दवा रखते हैं और यथा समय उनके प्रयोग करते रहते हैं। ज्योंही श्वास बढ़ने लगा तो वे तुरत गोली निकाल कर, मुंह में रख लेते हैं। ऐसे शरीर रोग के रोगी घर-घर में मिलते हैं। कदाचित् कोई नियत आहार विहार आदि के कारण, शरीर में रोग नहीं देखा हो, ऐसा भी मिल सकता है।

आत्म रोगी और ज्ञान गुटिका

शरीर का रोग किसी को हो और किसी को नहीं भी हो। परन्तु आत्म रोग से कोई रोगी नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं। विषय और कषाय का रोग, हर प्राणी के साथ न जाने कब से लगा और कब तक लगा रहेगा, इसकी कोई सीमा नहीं है। मानव इन विषय-कषायों को जन्म से ही साथ लेकर चला है—जन्मघूंटी के साथ ही इसको मन में बसा रखा है। यह कब जोर में आकर हमारे ज्ञानादि गुणों का सर्वनाश कर बैठे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

अतः इससे बचने के लिए—रक्षण पाने के लिए, कोई अनुकूल साधन अपनाना चाहिये और वह साधन है ज्ञान की गुटिका। वीत-राग-वाणी की गुटिका, कषाय के विष को, राग के जहर को दूर कर देगी। परन्तु जिनके पास यह साधन बराबर नहीं होता अथवा जो साधन होते हुए भी इसका उपयोग करना भूल जाते या उपयोग की ओर दुर्लक्ष्य कर जाते, तो वे आत्मगुणों को, आत्मविकास को और आत्मा की ऊर्ध्वगति को गंवा बैठते हैं। वे इस अनमोल और अपूर्व लाभ से वंचित हो जाते हैं।

इसलिए भगवान् ने साधना के साथ यह लक्ष्य दिया और कहा कि कल्याण कामिन् ! यदि तुम इस बात को ध्यान से निकाल दोगे तो तुमको अपनी अच्छी से अच्छी क्रिया का जो फल मिलना चाहिये कर्मों की वेड़ी काटने का, वह फल तुम्हें नहीं मिलेगा। उसको पुनः पाने में तुमको बहुत देर लग जायेगी और फिर कदाचित् वह प्राप्त भी नहीं हो सके। इसलिए कहा कि साधु ! साधना में हमेशा प्रमाद-रहित होकर रहो। जो अप्रमादी है, सावधान और सदा जागरूक है, वह किसी भी भय से कभी भयभीत नहीं होता। कहा भी है कि— "अप्पमत्तस्सनत्थि भयं।" यानी अप्रमादी को भय नहीं होता।

परन्तु प्रमादी जरासा चूका नहीं कि अधिक से अधिक फिसल जायेगा -नीचे चला जायेगा। शास्त्र कहता है कि—"सव्वओ पमत्तस्स भयं।" अर्थात् प्रमादी को सब ओर से भय है। प्रमादी जरासा चूकते ही वर्षों की साधना, तपस्या और जीवन में किया हुआ जप, तप, एवं साधना को क्षीण कर देता है। उदाहरण के रूप में भ० महावीर के पूर्वभव के जीव विश्वभूति आपके सामने हैं।

आपको ध्यान होना चाहिये कि उसने साधना के मार्ग पर, कदम बढ़ाकर, हजार वर्ष का तप किया, संयम की साधना की, व्रत की आराधना की। और वह भी कोई छोटी-मोटी मंदगति से या रोते-खीजते नहीं। परन्तु बड़े उल्लास एवं उमंग के संग हँसते-हँसते

आज की तरह, उनके मास खमण के तप पर तेल की मालिश या चन्दन का विलेपन नहीं होता। नये साधकों के लिए सुख-सुविधा के नूतन-नूतन साधन हैं, जो तप में भी आराम पहुँचाने के नाम पर किए जाते हैं। वे साधुरूप में अभिग्रह धारण किए हुए चल रहे थे। उनको मालिश की सेवा तो दूर, थक कर थोड़ी देर तक दिन में लेटना और विश्राम भी नहीं करना था। इस प्रकार की अविराम तपस्या, कहने को जितनी सरल दिखती है, करने को उतनी सहज नहीं।

द्रव्य टक्कर से वचन टक्कर भयंकर

तपस्वी मुनि विश्वभूति मास खमण के पारणा हेतु मथुरा नगरी पहुँचे। वहां विशाखभूति के मर्मवेधी शब्दों की टक्कर लगी। दूसरी ओर गाय की टक्कर लगी जो द्रव्य टक्कर थी। गाय की टक्कर से तपस्वी मुनि गिरे और तुरन्त उठ गए। परन्तु विशाखभूति राजा ने जो वचनों का वाण मारा, वह मार वड़ी भयंकर थी। उसके द्वारा यह कहना कि—वाह जी वाह! देखी तुम्हारी शक्ति! सुभटों के सिरों को कपित्थ फल की तरह गिरानेवाला, वह तुम्हारा पौरुष और वल आज कहां गया? एक छोटी-सी गाय की टक्कर में ही गिर गए—चारों खाने चित्त हो गए!

वचन-वाण का यह निशाना अचूक और अमोघ रहा। राजा के द्वारा कही गई, परिमित अक्षरों की यह शब्दावली, इतनी दुखाने वाली वनी कि जिसकी टक्कर से वे खड़े भी नहीं रह सके। किसी

विशिष्ट धनुर्धारी के हाथ से चलाये गए तीर की तरह, वह वचन की मार, मर्मभेदी एवं गंभीर घाव करने वाली सिद्ध हुई। ऐसे विराट् तपस्वी ने अपने ज्ञानबल, दर्शनबल और चारित्रबल सबको भुला दिया। और गाय को पकड़ कर आसमान में घुमा दिया तथा विशाखभूति को लक्ष्य करके बोले कि तुम्हारी इन बातों का करारा जवाब दिया जा सकता है। परन्तु मैं मुनि मर्यादा का ध्यान कर चुप हूँ। तुम कभी यह मत समझना कि कारणवश कमजोर हुआ सिंह सियार से कभी कम हो सकता है ?

इस तरह क्रोध और अभिमान से तप्त होकर मुनि वहां से मुड़ चले। मगर उनके मन पर विशाखभूति का वह शब्द-बाण इतना तीखा और गहरा लगा कि वे फिर साधना में स्वस्थ मन से खड़े नहीं हो सके। कहा भी है कि शस्त्रों के घाव तो भर जाते हैं लेकिन वचनों के घाव जल्द नहीं भरते। इस तरह प्रतिशोध का भाव मन में बसाये उन्होंने अपनी आयु पूर्ण की। और वे सातवें स्वर्ग में चले गए। संभव है, आयु-बंध पहले हो गया हो। यदि आर्त और रौद्र में आयु का बंध होता तो वह रोष में बंधी हुई आयु, स्वर्ग में भी आगे नहीं बढ़ने देती। परन्तु रोष के द्वारा उनके अन्दर जो रौद्र विचार आया, उसका फल पहले नहीं मिलकर, शुभकर्म का उदय पहले हो आया। कहा भी है—

"सराग संयम से साधक, सुरपद को पाते हैं।
तप से होते कर्म क्षीण, भव भ्रमण मिटाते हैं।।"

कहावत है कि "सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णा फला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवंति।" अच्छे कर्मों के फल से प्राणी स्वर्गीय सुखों का अनुपम फल प्राप्त करता। और अशुभ कर्मों से नारक आदि के कटु-अशुभ फल पाता है। नारक जीव के शरीर, अत्यन्त तीखे शाल्मली वृक्ष के पत्तों से टुकड़े-टुकड़े किए जाते हैं। उससे उन नारकी जीवों को असीम वेदना होती है। शाल्मली वृक्ष के वे असिपत्र सीमित वेदना करते हैं, पर कटुवाणी के तीखे निशाने,

उससे भी अधिक वेदना उत्पन्न करते हैं। इसके कारण सारी साधना खराब हो जाती है, व्रत नियम टूट जाते हैं।

सब कर्मों में मोह की सबलता

मुनिराज कठिन साधना कर रहे थे। साधना में उनकी गति ऊँची थी। लक्ष्य महान् था। परन्तु मोह की बड़ी महिमा है, आठ कर्मों में। इसका परिवार सबसे अधिक सबल है। उसके परिवार के अट्ठाईस सदस्य हैं। यह स्थूल दृष्टि की बात है। सूक्ष्मरूप में सोचा जाय तो छोटी-छोटी संतानों का तो कोई पता ही नहीं है। एक नाम-कर्म का परिवार ही तेरानवे का है। उसमें दस और बढ़ाये जायें तो एकसौ तीन हो जाते हैं। पर वे ऐसे ढीले होते हैं, जैसे भेड़ों के बच्चे। एक भेड़िहर का बच्चा दोसौ तीनसौ भेड़ों को चरा लाता है। मगर गाय भैंस के पांच दस भी बच्चे उछलने कूदने वाले हों, तो अकेले बच्चे को उन्हें ले जाना कठिन होगा। उन बछड़े और पाड़िए को नियन्त्रित करने के लिए, किसी बड़े आदमी की, बलवान् की जरूरत होगी। और तीन सौ भेड़ों या उनके बच्चों के लिए एक बच्चा भी काफी है। इसी तरह नाम कर्म के परिवार एक सौ तीन हैं, परन्तु वह नाम की ही संख्या है।

परन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोह-कर्म के सदस्य क्रमशः पाँच, नौ पाँच और अट्ठाईस संख्या में थोड़े होकर भी, इतने अधिक शक्तिशाली-बलवान हैं कि वे पहाड़सिंहजी, डूगरसिंहजी और फतेहसिंहजी आदि सबको हिला दे—त्रस्त कर दे। अट्ठाईसों की तो बात ही क्या ? उनमें से एक भी खड़ा हो जाये तो अनन्त शक्ति-मान आत्मा को भी बिना हिलाये नहीं रहे। चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारी को भी गुमराह कर दे। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में साक्षात् विश्वभूति मुनि को देख लीजिए। जिन्होंने महल छोड़ा, रानियां छोड़ीं और करोड़ों-अरबों की विशाल सम्पदा को तृणवत् छोड़ दिया। इतनी बड़ी हिम्मत और त्याग करके घर से निकल गये। परन्तु आज उनके सामने एक छोटा सा क्रोध का वेग खड़ा हो गया, तो मन,

मस्तिष्क सब को हिला दिया। वे क्रोधावेश में निदान कर बैठे कि मेरे तप की शक्ति हो तो इस वैर-भाव का बदला लेकर रहूँ।

देवलोक में उत्तरोत्तर वासना की कमी

देवगति में जाने के अनेक कारणों में सराग-संयम, श्रावकधर्म, वालतप और अकाम निर्जरा कहे गये हैं। उनमें सराग संयम भी एक कारण है। तप और त्याग के साथ रहा हुआ राग का अंश देवभव के भोग की उपलब्धि का कारण होता है। देवलोक में विषय-वासना कम है। देव-देवियों का शारीरिक स्पर्श नहीं होता। कारण पूर्वभव में संयम की उच्च साधना की जा चुकी है। जैसे-जैसे राग का अंश कम होता है, वैसे स्वर्ग में भी स्वर्गीय जीव राग से ऊपर उठते जाते हैं। यद्यपि मनुष्य लोक से स्वर्ग में सुखोपभोग की सामग्रियां अधिक होती है। परन्तु उनमें सुखोपभोग की इच्छा उत्तरोत्तर कम हो जाती है। व्यन्तर जाति के देव और अनुत्तर विमान के देवों में यही अन्तर है कि व्यन्तरों के पास सामग्री कम पर लालसा और वासना अधिक होती है। कहा भी है—"कमजोर में वासना ज्यादा। चाहे मनुष्य हो या पशु कहीं देखिये, दुर्वल व्यक्ति कामना, वासना एवं भर्त्सना के झोंकों को अधिक वर्दाश्त नहीं कर सकते। कमजोर को ब्रह्मचर्य-पालन करने को भी कहा जाय, तो वह उसके लिए मुश्किल होगा। मगर एक पहलवान को, वलवान् को, जिसके दिल में, वदन में ताकत है, उनको सदाचार का पालन भारी नहीं पड़ेगा।"

जहां कमजोरी होती है, वहां वासना का जीतना भारी होता है। कमजोरों में वासना विजय की क्षमता कम हो जाती और उत्तेजना बढ़ जाती है। तपस्या के साथ यदि निर्ग्रन्थभाव-वीतरागभाव को लेकर वढ़ा जाता है तो स्वर्ग में भी, जहाँ वासना कम होती है, वैसे वैसे लोक में जाता है। व्यन्तरों में वासना तो ज्यादा है, परन्तु सामग्रियां कम हैं। परन्तु इससे ऊपर वाले देवलोकों में सामग्रियां वढ़ी-चढ़ी होती हैं, मगर वासना वहुत कम है। और वाहरवें देवलोक और इससे आगे मैथुन संज्ञा नाम मात्र को है। यानी कामभोग के

स्मरण मात्र से उनकी वासना शान्त हो जाती है। अनुत्तर विमान वाले देव तो वासना वाले ही नहीं होते हैं। उनको उवसंत कामा कहा है। विश्वभूति अपने सत्रहवें भव में, ऐसे देवलोक में पहुँचा, जहां—भोग नहीं होता।

विश्वभूति वासुदेव के भव में

साधना में विकार रह जाने के कारण, विश्वभूति सप्तम स्वर्ग के देव होकर भी, विशिष्ट सम्मान नहीं पा सके। कारण अन्त समय में आलोचना नहीं की थी। आत्मा में तीन बड़े शल्य होते हैं—माया, निदान और मिथ्या दर्शन। विश्वभूति को भी निदान का शल्य रह गया। अतः इतने बड़े साधक को भी चक्कर खाना पड़ा। वे अठारहवें भव में, प्रजापति राजा के यहां जन्मे। शरीर की विशिष्ट रचना को देख, उनका नाम त्रिपृष्ठ रखा गया। आगे ये प्रथम वासुदेव होनेवाले हैं। जो कि ऐतिहासिक पुरुष और अपने अद्भुत कृत्यों के कारण, लोक में बहुचर्चित व्यक्ति माने गए हैं।

भारतीय लोक जीवन पर वासुदेव की अमिट छाप होती है। संभव ही कोई ऐसा हो, जो वासुदेव को नहीं जानता और न मानता हो। अधिकांश व्यक्ति पितृजीवी होते हैं। किन्तु तेजस्वी पुत्र पितृ-जीवी न होकर स्वयंजीवी होता है। त्रिपृष्ठ का जीवन भी ऐसा ही था। जिसका परिचय आपको आगे सुनने को मिलेगा।

कर्म शृंखला और जैन शासन

जैन शासन में कर्मों की शृंखला जन्म-जन्मान्तर से सम्बद्ध और अत्यन्त मजबूत मानी गयी है। बड़ा से बड़ा साधक भी जरा सा विषय कषाय में टकरा गया तो वह भारी कर्मों से बंध जाता है। बंध और भोग की परम्परा ऐसी चल पड़ती है जैसे साहूकार और आसामी का लेन देन चलता रहता है। यद्यपि साहूकार और आसामी का लेन देन, एक जन्म में ही पूरा हो जाता है। परन्तु किये कर्मों का यह कर्जा, अनेक जन्मों तक भोग कर भी पूरा नहीं होता।

जिन शासन में कर्म के कर्ज को कैसे चुकाया जाये, इस पर गहराई से विचार किया है। आप सबको वीतराग की वाणी सुनने का अवसर मिला है तो यह जरूर ध्यान देना चाहिये कि हमारी आत्मा कर्मों से भारी न हो जाय। क्योंकि हमारे अन्दर इतनी शक्ति नहीं है और फिर साधना भी कमजोर है। अतः संचित कर्म के प्रबल उदय में भटक जायेंगे। इसलिए ज्ञानियों ने कहा—अपनी आत्मा का ख्याल करके कर्मबन्धन से बचते रहो। कारण कर्मबन्धन के निमित्त तो पग-पग पर मिलते रहते हैं। परन्तु कर्म काटने का निमित्त तो यहीं सत्संग में मिलता है। घर-दुकान और बाजार कहीं जाते, तो हिंसा-मृषा आदि से कर्म बांधते रहते हो। इधर-उधर से कुछ समय बचे तो सोचो कि वीतराग-वाणी सुनने को चलें, सत्संग में बैठें। क्योंकि सत्संग और धर्म करनी में आकर जितने समय तक बैठोगे, कर्म बन्ध से बचोगे। कर्जा सिर पर नहीं चढ़ेगा। और कर्म नहीं चढ़ा तो चुकाने के लिए, अधिक कष्ट नहीं देखना पड़ेगा। इस तरह ज्ञान भाव को आत्मा में उतारा जाये। ज्ञान भाव को अन्तर में उतारने का सत्संग अच्छा साधन है, उपाय है। सत्संग की सत्प्रेरणा से ज्ञान, अनायास जीवन में उतर पाता है।

पूर्व के और आज के लोगों के भिन्न-भिन्न विचार

पहले के लोगों को साधना के लिए बड़ी चिन्ता रहती थी। वे अपने बच्चों को गुरांसाह के पास या आश्रमों में जीवन सुधारने के लिए पढ़ने पढ़ाने को रखा करते। ताकि बच्चे सदाचारी और अच्छे संस्कार वाले बन सकें। मगर आज तो बच्चों को प्रारंभ से ही, मिशनरी स्कूल में रखना श्रेयस्कर माना जाता है। आज के लोग गौरव के साथ बोलते हैं कि महाराज! हमारा बच्चा मेयो कालेज में पढ़ता है। जहां उसके सौ रुपए मासिक कालेज फीस लगते हैं।

पहले जहां राजा महाराजा के लड़के पढ़ते थे, वहां आज अपने बच्चों को भेज कर आप गर्वानुभव करते और अपने को राजा महाराजा की श्रेणी में समझते, हर्ष का अनुभव करते हैं। जो मेयो कालेज

में अपने बच्चे को नहीं पढ़ा सकते, वे भी दूसरे दूसरे कालेजों में पढ़ाते हैं। परन्तु कोई भी माई का लाल यह हिम्मत करके नहीं कहता कि हम अपने बच्चों को साधुसंग एवं संतों की सेवा में, संस्कार निर्माण के लिए ज्ञान गोष्ठी में भर्ती करवा देंगे। ऐसी हिम्मत किसी की नहीं होती। संतों का मन प्रसन्न रखने के लिए कह देगा–महाराज! थोड़ा बड़ा होने पर आपके पास भेजेंगे। जबकि बच्चा सब प्रकार से अनुशासनहीन हो जाता है, तब यदि कोई आये भी तो क्या सफलता पाये!

होना तो चाहिये कि हर क्षेत्र में साधु-साध्वियों के साथ, कुछ समय के लिए अपने बच्चों-बच्चियों को रखकर, अभ्यास कराया जाय तो वे धार्मिक संस्कारवाले हो सकते हैं। यदि ऐसी आदत हो जाये तो बच्चे-बच्चियों के जीवन-निर्माण में, कितना सहयोग मिल सकता है? कभी-कभी शुभ कर्म का उदय होता है और पुण्यवानी जोरदार होती है तो एकाध व्यक्ति ऐसा भी मिलता है जो अपने बच्चे-बच्ची को शासन सेवा में भेज देता है। पालासनी के भाई जेवन्तराज ऐसा ही एक गुरुभक्त व्यक्ति है, जिसने एगारह वर्ष वयवाले अपने पुत्र को, धर्मज्ञान मिलाने के हेतु संतों की सेवा में छोड़ रखा है। ऐसे बड़े त्याग के लिए अपना मोह छोड़ना पड़ता है। भाई स्वयं लम्बी तपस्या और धर्म नहीं कर पाते, तो पुत्र को धर्ममार्ग में लगाकर भी महालाभ मिला सकते हैं।

शास्त्र में धर्म करने के तीन प्रकार बताये हैं। स्वयं करना, कराना और अनुमोदन करना। जो स्वयं नहीं कर सकता है, वह अपने पड़ोसी, मुनीम एवं आश्रित वगैरह से कराके लाभ मिला सकता है। यह उसकी दलाली है। तीसरा प्रकार है अनुमोदन का। त्याग, तप एवं साधना करनेवालों के गुण कीर्तन करना, यथायोग्य सहयोग कर उसके सत्कर्म में, मन को बढ़ावा देना, यह भी लाभ मिलाने का सरलतम रास्ता है।

श्रीकृष्ण और श्रेणिक ने कर्मकार्य में प्रेरणा कर तीर्थंकर गोत्र जैसे उच्च पुण्य का उपार्जन कर लिया। तो स्वयं करने की जिनमें शक्ति नहीं हो वे भी उपरोक्त अन्य दो प्रकार से लाभ मिलाना न भूलें।

जैसे धर्म करने के तीन प्रकार हैं, वैसे पाप करने के भी तीन प्रकार हैं। विवेकी श्रोता को चाहिये कि धर्म साधना करने और कराने में कदाचित् समर्थ न हो तो, कम से कम, सत्कर्म करनेवाले को, बाधा तो भूलकर भी न दे। क्योंकि इससे चारित्र मोह का बंध होता है। जो जन्म-जन्म तक भटकाते रहता है। जरासी भूल से विश्वभूति कैसे भटक गया, इसको आगे त्रिपृष्ठ के परिचय में सुनेंगे और ज्ञान पाकर अपने आपको पाप से बचायेंगे। जैसे कि कहा है—

"समझसार संसार में, समझू टाले दोष।
समझ समझकर जीवड़ा, गया अनन्ता मोक्ष॥"

इस प्रकार जो करेगा, लोक परलोक में, शान्ति प्राप्त करेगा।

●●

१४

कर्म : दुःख का मूल

दुःख का कारण कर्म-बन्ध

वन्धुओ ! वीतराग जिनेश्वर ने, अपने स्वरूप को प्राप्त करके, जो आनन्द की अनुभूति की, उससे उन्होंने अनुभव किया कि यदि संसार के अन्यान्य प्राणी भी, कर्मों के पाश से मुक्त होकर, हमारी तरह स्वाधीन, स्वरूप में स्थित हो जायें तो वे भी दुःख के पाश से बच जायेंगे। यानी दुःख से उनका कभी पाला नहीं पड़ेगा। दुःख, अशांति, असमाधि या क्लेश का अनुभव तभी किया जाता है, जबकि प्राणी के साथ कर्मों का बंध है।

दुःख का मूल कर्म और कर्म का मूल राग-द्वेष है। संसार में जितने भी दुःख हैं, वेदनायें हैं, वे सब कर्ममूलक ही हैं। कोई भी व्यक्ति अपने कृत कर्मों का फल भोगे विना नहीं रह पाता। कर्म जैसा भी होगा, फल भी उसी के अनुरूप होंगे। प्रश्न होता है कि यदि दुःख का मूल कर्म है तो कर्म का मूल क्या है ? दुःखमूलक कर्म क्या स्वयं सहजरूप में उत्पन्न होता है या उसका भी कोई कारण है ? सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी कार्य, कारण के विना नहीं होता। फिर उसके लिए कोई कर्ता भी चाहिये। कर्तापूर्वक ही क्रिया और क्रिया का फल कर्म होता है।

कर्म और उसके कारण

परम ज्ञानी जिनेश्वर देव ने कहा कि कर्म करना, जीव का स्वभाव नहीं है। स्वभाव होता तो हर जीव कर्म का बंध करता और सिद्धों के साथ कर्म लगे होते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अयोगी-

केवली और सिद्धों को कर्म का बंध नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि कर्म सहेतुक है, अहेतुक नहीं। कर्म का लक्षण करते हुए आचार्य ने कहा—"कीरइ जिएण हेउहिं।" जो जीव के द्वारा किया जाय, उसे कर्म कहते हैं। व्याकरण वाले क्रिया के फल को कर्म कहते हैं। खाकर आने पर उससे प्राप्त फल-भोजन को ही कर्म कहा जाता है। खाने की क्रिया से भोजन मिला, इसलिए भोजन कर्म कहाता है। सत्संग में आकर कोई सत्संग के संयोग से कुछ ज्ञान हासिल की, धर्म की बातें सुनने को पायीं, तो यहां श्रवण-सुनने को भी कर्म कहा, जैसे "श्रवण: कर्म"। पर यहां इस प्रकार के कर्मों से मतलब नहीं है। यहां आत्मा के साथ लगे हुए कर्म से प्रयोजन है। कहा है—"जीएण हेउहिं, जेणं तो भण्णई कम्मं"। यानी संसार की क्रिया का कर्म तो स्वत: होता है। परन्तु यह विशिष्ट कर्म स्वत: नहीं होता। यहां तो जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है।

कर्म विषय पर कर्मग्रन्थों में बहुत विशद एवं विस्तृत विचार किया गया है। उन पर यदि प्रकाश डाला जाये और सुना जाये, पढ़ा जाये तो घड़ियां नहीं, दिनों नहीं, परन्तु महीनों के महीने पूरे हो सकते हैं। यदि वर्ष भी कह दूं तो कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं होगी। इतने विस्तार के साथ कर्मों के बावत विचार किया गया है—इतनी बृहद्-सामग्री, आचार्यों ने कर्म के विषय में संभाल कर रखी है। कर्म की मुख्य चार दशाएं होती हैं, बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता।

कर्म के भेद और व्यापकता

कर्म के संक्षेप में तीन भेद हैं—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। प्रस्तुत प्रसंग में इस तरह का विचार शास्त्रीय बन जायेगा और इसमें रस लेने वाले व्यक्ति बहुत नहीं मिलेंगे। फिर भी संक्षेप में समझें कि—कार्मण वर्गणा का आना और कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्धित होना, यह द्रव्य कर्म है। द्रव्य कर्म के ग्रहण करने की

हटेगी—दूर होगी। और कर्मों की बेड़ी कब कटेगी, जब राग-द्वेष दूर होंगे।

बहुधा एकान्त और शान्त स्थान में अनचाहे भी सहसा राग-द्वेष आ घेरते हैं। एक कर्म भोगते हुए, फलभोग के बाद, आत्मा हल्का होना चाहिये, परन्तु साधारणतया इसके विपरीत होता है। भोगते समय राग-द्वेष उभर आते या चिन्ता शोक घेर लेते तो नया वंध बढ़ता जाता है। इससे कर्म परम्परा चालू रहती है। उसका, कभी अवसान—अन्त नहीं हो पाता। अतः ज्ञानी कहते हैं कि कर्म भोगने का भी तुमको ढ़ंग-तरीका सीखना चाहिये। फलभोग की भी कला होती है। और कला के द्वारा ही उसमें निखार आता है। यदि कर्मभोगने की कला सीख जाओगे तो तुम नये कर्मों का बन्ध नहीं कर पाओगे। इस प्रकार फलभोग से तुम्हारी आत्मा हल्की होगी।

कर्म फलभोग आवश्यक

शास्त्रकारों का एक अनुभूत सिद्धान्त है कि—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" तथा—"अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।" यानी राजा हो या रंक, अमीर हो या गरीब, महात्मा हो अथवा दुरात्मा शुभाशुभ कर्म फल सब जीव को भोगना ही पड़ेगा। कभी कोई भूले-भटके सन्त प्रकृति का आदमी किसी गृहस्थ के घर से, ठंढ़ाई कहकर दी गई थोड़ी मात्रा में भी ठंढ़ाई के भरोसे भंग पी गये। फिर पता चला कि ठंढ़ाई में भंग थी। यह जानकर पछतावा होता है मगर वह भंग अपना असर दिखाए बिना नहीं रहेगी। बारम्बार पश्चात्ताप करने पर उस साधु प्रकृति को भी नशा आये बिना नहीं रहेगा। नशा यह नहीं समझेगा कि पीनेवाला सन्त है। और इसने कल्पनीय ठंढ़ाई समझकर अनजान में इसे पी लिया है तो इसे भ्रमित नहीं करना चाहिये। नहीं, हर्गिज ऐसा नहीं होगा। कारण, बुद्धि को भ्रमित करना उसका स्वभाव है। अतः वह नशा अपना रंग लाये बिना नहीं रहेगा। बस, यही हाल कर्मों का है।

सत्रहवां भव महाशुक्र कल्प का पूरा किया। दीर्घकालीन बड़ी तपस्या से, उनके विषय हल्के हो गए थे। कषाय भावना भी दबी हुई सत्ता में थी। संयोगवश एक निमित्त मिला और दबा हुआ कषाय भाव दहक उठा। विषयभाव तो उनका बहुत हल्का था। मधुर से मधुर शब्द-लहरी सुनकर भी, उनके मन में राग नहीं आता था। किसी सुन्दर रूप को देखकर भी उनके मन में मोह नहीं होता। अच्छे स्वादिष्ट पदार्थों की तरफ भी, उनकी जीभ नहीं ललचाती। पर कषाय में, क्रोधभाव भीतर दबा बैठा था। अतः थोड़ी सी ठेस लगते ही वह उफ़ान में आ गया।

जैसे किसी के शरीर में कोई फोड़ा है और उसमें मवाद भरा हुआ है। सहज में थोड़ी सी ठेस लगते ही, फोड़े को फूटते देर नहीं लगती एवं उसके फूटने पर घाव से पीप निकलने लगती है। इसी तरह हमारे अन्दर में, कषाय का जो फोड़ा भरा पड़ा है। उसमें मवाद की तरह जो कषाय भाव की सड़ांध भीतर में है, वह इधर उधर की टक्कर नहीं लगे तब तक तो ठीक दबी है। परन्तु ज्योंही ठेस लगी कि फोड़े वाला हाय हाय कर चिल्लाने लगता और मेरा प्राण निकला, जीव निकला आदि कहने लगता है।

फोड़ा तो ठेस लगने और मवाद निकलने पर ही ठीक हो जाता है—दर्द हल्का हो जाता है। परन्तु कषायरूप फोड़ा ठेस लगने पर हल्का होने के बजाए, भारी हो जाता है। हां, तो उस मुनि ने कषाय के रंग में रंग कर विचार किया कि इसके वैर का बदला लूं। क्योंकि यह राजमद में बेभान हो रहा है। यह सत्ता के नशे में कुछ नहीं समझ रहा है। इसको शिक्षा देना आवश्यक है। इसी भाव में मर कर वे सातवें देवलोक में उत्पन्न हुए और वहां से च्यवन करके अठारहवें भव में राजा प्रजापति के यहां जन्म लिये।

विश्वभूति त्रिपृष्ठ के भव में

पुण्यशाली व्यक्ति, अपने पुण्य के अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री भी तदनुकूल प्राप्त करते हैं। संसार में तीन प्रकार

की जगह साता आ जाये तो इसमें नई बात क्या है ? संयोग की जगह वियोग से आपका पाला पड़ा तो कौनसी बड़ी बात हो जायेगी ! ज्ञानी कहते हैं कि इस संसार में आए हो तो समभाव से रहना सीखो। संयोग में जरूरत से अधिक फूलो मत। और वियोग के आने पर आकुल-व्याकुल नहीं बनो, घबराओ नहीं। यह तो सृष्टि का नियम है – कायदा है। हर वस्तु समय पर अस्तित्व में आती और सत्ता के अभाव में अदृश्य हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर सोचो कि जहां छाया है वहां कभी धूप भी आयेगी जहां अभी धूप है, वहां छाया भी समय पर आये बिना नहीं रहेगी।

अभी दिन है—सर्वत्र उजाला ही उजाला है। छः बजे के बाद सूर्योदय हुआ। परन्तु उसके पहले क्या था ? सर्वत्र अंधेरा ही तो था। किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। यह परिवर्तन कैसे हो गया ? अन्धकार को जगह प्रकाश कहां से आ गया ? तो जीवन में भी यही क्रम चलता रहता है। जिन्दगी एक धूप-छांह ही तो है ! प्रजापति के हर्ष और सुख के बीच शोक एवं दुःख का निमित्त आ गया।

हर हालत में खुश और शान्त रहो

संसार के शुभ-अशुभ के क्रम को, व्यवस्था को, ज्ञानीजन सदा समभाव या उदासीन भाव से देखते रहते हैं। उन्हें जगत् की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ चंचल अथवा आन्दोलित नहीं कर पाती। वे न तो अनुकूल परिस्थिति के आने पर हर्षोन्मत्त और न प्रतिकूलता में व्यथित एवं षिषण्ण बनते हैं। सूरज की तरह उनका उदय और अस्त का रंग एक जैसा और एक भावोंवाला होता है। वे परिस्थिति की मार को सहन कर लेते हैं, पर परिस्थिति के वश रंग बदलना नहीं जानते। जीवन का यही क्रम उनको सबसे ऊपर बनाये रहता है। अपनी मानसिक समता बनाये रखने के कारण ही वे आत्मा को भारी बनाने से बच पाते हैं। और जिनमें ऐसी क्षमता

१५

कषायविजय ही आत्मविजय

जीवों की परतन्त्रता और संत हृदय

बन्धुओ ! संसार के जितने भी जीव हैं वे स्वाधीन नहीं है। अपने रूप में यानी अपने भाव या स्वभाव में नहीं हैं। संसार के जीव सबकेसब पराधीन हैं, पररूप में हैं और परतन्त्रता की दशा में जीवन विता रहे हैं। उनकी यह परतन्त्रता, आकुलता, किसी दूसरे के द्वारा नहीं की गई है, वलात् थोपी या लादी हुई नहीं है। परन्तु इस परतन्त्रता में, पराधीनता और परभाव में, रहने का अपनी-स्वयं की भूल ही कारण है। एक मकड़े की तरह स्वतः जालों को सृजन कर जीव स्वेच्छा से उसमें ही उलझे हुए हैं—फंसे हुए हैं। अपनी भूल से ही संसारी प्राणी, स्वभाव में, अपने घर में और अपने स्वत्व में रहने के वजाय, पराधीनता की जिंदगी गुजार रहे हैं।

ज्ञानियों ने संसारी जीवों की यह विषम दशा देखकर, परम करुणाभाव से द्रवित होकर चाहा कि मानव को इस स्वकृत दुःख-दशा से मुक्त होने के लिए, कोई ऐसा अनुभूत मार्ग बताया जाय, जिस पर चलकर वे इन उलझनों से मुक्त हो सकें—वन्धन से छूट सकें। संतजनों का यह स्वभाव होता है कि वे पर दुःख को देर तक देख नहीं सकते। वे पराये दुःख को देखते ही, दुःख निवारण के लिये सचेष्ट हो जाते हैं। वे जैसे प्राणियों के शारीरिक, मानसिक पीड़ा से मुक्ति चाहते, ऐसे दुःखों के कारण आध्यात्मिक दोषों के निवारण की भी प्रेरणा करते हैं। यह उनको परमदया है। तुलसी ने भी कहा है—

"संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहिहि न जाना।
निज परिताप द्रवहिं नवनीता, पर दुःख द्रवहिं संत सुपुनीता ।।"

द्रव्यदया और भावदया

शास्त्रों में दया के अन्य अनेक भेदों को बताते दो भेद प्रमुख बतलाये हैं—एक द्रव्यदया और दूसरी भावदया। कोई दयालु पुरुष, किसी पक्षी पकड़ने वाले को देखता है जो तोते या अन्य पक्षियों को, युक्ति से पकड़ लेते, पांच दस पक्षियों को एक पिंजरे में बन्द कर लेते। खुले आकाश में वे स्वेच्छाविहारी पक्षी, एक सीमित दायरे के पिंजरे में, बन्द होकर, तड़फते हैं, छटपटाते हैं और पिंजरे से निकलने की भरसक कोशिश करते। परन्तु चाहकर भी वे उससे निकल नहीं पाते हैं। इस पराधीन दशा में, मरणासन्न उन पक्षियों को देख कर, दयालु हृदय कोई करुणाभाव से उनको छुड़ाना चाहे तो उसको समझाकर या कुछ धन देकर भी वह उन्हें छुड़ाता है। तो यह उस दयालु पुरुष की द्रव्य दया हुई। परन्तु यह वीतराग देव की भावदया नहीं है।

वीतराग प्रभु ने संसारी प्राणी को पिंजरे के तोते की तरह, संसार रूप पिंजरे में उलझा हुआ फंसा हुआ और जकड़ा हुआ देखकर सोचा कि इनको इस पिंजरे से निकालने का भान नहीं है। तोते तो तड़फते थे, अकुलाते थे मगर यह तो मदमत्त की तरह संसार की रंग रेलियों मे रंगा हुआ, डूबा हुआ तथा कर्त्तव्य और स्वरूप को भुलाये बैठा है। इसको अपना बन्धन, बन्धन प्रतीत नहीं होता और न यह इससे मुक्त ही होना चाहता है। एक छोटा सा पंछी तो मुक्ति चाहता है। मगर मानव जैसा विशिष्ट प्राणी, चुपचाप संसार के जाल में फंसा हुआ भी, और अधिक उलझना चाहता है। यह बड़ी विषम स्थिति है। इसको अपने बंधन का भान तथा उससे मुक्त होने का रास्ता बता कर इसका कल्याण करना चाहिये। तो प्रभु की यह प्राणि मात्र के प्रति परमकारुणिक भावना, अनन्त अनन्त दया ही भावदया कहाती है। आप और हम छोटी मोटी दया करते हैं, जोकि अत्यन्त सीमित होती है। साथ ही इस द्रव्य दया में, दोष की भी संभावना रह सकती है। परन्तु वीतराग देव की दया शुद्ध एवं अनुपम होती है।

सुख दुःख और बंधमुक्ति अपने हाथ

सांसारिक उलझनों में उलझे प्राणियों को प्रभु ने कहा—मानव! यह तेरी पराधीनता परकृत-दूसरों के द्वारा की हुई नहीं है। यह स्वकृत यानी अपने से ही की हुई है। ये बन्धन जिसमें तुम दृढ़ता-पूर्वक वंधे हुए हो, यह किसी दूसरे की क्रिया नहीं है। यानी किसी और ने तुमको बांधा नहीं है। और इस वन्धन का छेदन भी किसी और को नहीं करना है। बंध-छेदन भी तुम्हारे अपने हाथ की ही वात है। तू इस बात की चिन्ता मत कर और इसके लिए, किसी के पास फरियाद भी नहीं कर। क्योंकि कर्म करने की तथा फल भोगने की व कर्म काटने की सारी जिम्मेदारी तुम्हारी अपनी है। सुख हो या दुःख, वंध हो या मुक्ति, सब तुम्हारे अपने हाथ में है।

प्रभु ने बताया कि जो भोला जीव यह समझता है कि जीव को कर्मफल कोई दूसरा दिलाता है। राजा की तरह अपराधी को जेल में कोई दूसरा डालता है, दुःखी करता है। अपराधी का वन्धन भी कोई दूसरा ही काट देता है, ऐसा समझना, भोले जीव की भूलभरी ना समझी है, अज्ञानता है। ज्ञानी जन कहते हैं—इसका निपटारा करने वाला, कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। तू ही अपना राजा महाराजा, और वन्धन में बांधने वाला तथा काटनेवाला भी स्वयंही है। तू इसे बरावर ध्यान में बनाये रख कि—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।
अप्पामित्तममित्तं च, दुपट्ठिअ - सुपट्ठिओ ।।

मानव ! दुःख के वन्धन का निर्माण करने वाला तूही और काटने वाला भी तूही है। कुमार्ग स्थित आत्मा ही शत्रु और सुमार्गस्थ आत्मा ही मित्र है।

विविध रूपों में भी मौलिक एकता

वचपन से आज तक के कितने वर्ष गुजारे ! किसी के पचास-साठ तो किसी के सत्तर-अस्सी वर्ष गुजर गये। परन्तु इतने वर्ष

आत्मा के भेद और उसकी विविध दशा

आत्मा आठ प्रकार की बताई गई है । द्रव्य आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चारित्र आत्मा और वीर्य आत्मा । यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा एक है या आठ ? आत्मा एक है और यहां आठ बताई गई है, तो इसका मतलब यह रहा कि आत्मा की बदलती हुई स्थितियों में, जिस भाव की मुख्यता रही, उस भाव की अपेक्षा, आत्मा को सम्बोधित किया गया है ।

इस तरह द्रव्य, उपयोग और दर्शन आत्मा सब दशाओं में रहती । सिद्ध अवस्था में भी ये उपयोग एवं दर्शन विद्यमान रहते हैं । आत्मा के गुण धर्म होने से चाहे वह संसारी अवस्था में हो या मुक्त अवस्था में, उपयोग आदि सबमें कायम रहने वाले हैं । सिद्ध की अवस्था में भी जीव द्रव्य विद्यमान है । कारण जीव कभी अजीव नहीं होता और अजीव जीव नहीं होता । क्योंकि जीव का लक्षण बताया गया है "जीवो उवओग लक्खणो ।" यानी जिसमें उपयोग है, वह जीव है । निगोद दशा के अव्यक्त चेतनावाले जीवों में भी, उपयोग का अंश विद्यमान् है ।

परन्तु आत्मा के इस उपयोग को किधर लगाना चाहिये ? यह स्वविवेक पर निर्भर है । अगर इसका सही दिशा में उपयोग किया जाय तो काम बन सकता है—आत्म-कल्याण सम्भव हो सकता है । किन्तु बीच में एक उन्मादी का प्रवेश हो जाता है; जिसका कि नाम कषाय है । यह कषायात्मा आत्मा का विकृत रूप है । ऐसी विकृत आत्मा का उपयोग, दर्शन और वीर्य भी बजाए स्वरूप की ओर बढ़ाने के विभाव-परभाव यानी भोगभाव की ओर बढ़ाता है । आत्मा के शुद्ध स्वभाव से हटाकर विकारों की ओर उसे धकेल देता है । इस तरह आत्मा का स्वरूप ही बदल जाता है । कषाय और योग आत्मा ही संसार में भटकाने वाले तथा कर्म बन्धन के मूल कारण हैं ।

कषाय और योग विजय ही आत्म विजय

आत्म-कल्याण के लिए ज्ञानियों ने कहा कि कषाय आत्मा और योग आत्मा को जीतो। इन दो को जीतना है और दो से अर्थात् ज्ञान एवं चारित्रभाव से जीतना है। कषाय और योग ये दो ही आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। इसलिए इन दोनों को ज्ञानात्म-भाव से और चारित्रभाव से जीत लिया तो दुःखों से मुक्ति कठिन नहीं होगी। कहा भी है कि—"अप्पणाचेव अप्पाणं, जिणित्ता सुह-मेहए।" अर्थात् ज्ञानपूर्वक चारित्र आत्मा से कषाय आत्मा को जीतकर आनन्द प्राप्त किया जाता है। इसतरह भव-बन्धन से छूटकर आत्मा परमात्मभाव को प्राप्त करता है।

पहले कह चुका हूँ कि जीव का यह बन्धन परकृत नहीं है, स्वकृत है। कषाय आत्मा स्वयं ही स्वयं का बन्धन तैयार करती और उसमें आत्मा को बांधती है। कषाय की उग्रता-प्रबलता ही आत्मा के लिए, बन्धन कारक बनती है। परन्तु उदयभाव को यदि क्षयोपशम कर दिया जाये, उपशम एवं क्षायिक भाव में बदल दिया जाये तो ये सारी कर्मों की स्थितियाँ समाप्त हो सकती हैं।

अपने को समझना ही सब कुछ सीखना है

भगवान् महावीर ने अनन्त-अनन्त करुणा करके कहा कि मानव! अपने बन्धनों को स्वयं समझो और काटो। सूयगडांग सूत्र में प्रभु ने कहा है—"बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।" यानी आत्मा का बोध करो। यदि तुमने दुनिया भर को जान लिया परन्तु अपने आपको नहीं जाना तो जानना एवं जीवन व्यर्थ है—बेकार है। तुम किस कारण से भव-बन्धन में पड़े हो और बन्धन को कैसे काटा जाता है? यदि यह नहीं जाना तो चाहे लाखों करोड़ों मिलाना सीख गये, राज्य करना, हुकूमत करना, परिवार बढ़ाना आदि बहुत-सी व्यावहारिक बातें सीख गये तो भी आत्महित की दृष्टि से कुछ भी नहीं सीखा। आत्मा का बन्धन कैसे काटना, भव-

प्रपंच से अपने को कैसे अलग करना, यदि इसकी जानकारी नहीं पायी तो सब सीखा हुआ बेकार है।

अतएव उन दूसरी-दूसरी बातों को सीखने की अपेक्षा अब यह सीखना जरूरी है। और सीखकर उन्हें सतत ध्यान में बनाये रखना भी आवश्यक है। कई बार ऐसा होता है कि सीख तो लिया पर ध्यान में नहीं रहा। इसलिए बंध और मोक्ष के कारणों को सम्यक् जानकर, ध्यान में रखने का यत्न करना चाहिये।

अवसर चूका तो सब चूका

भगवान् महावीर ने दया करके बताया कि मानव! याद रखो कि विश्वभूति जैसे महान् तपस्वी ने सीखा था कि बन्धन कैसे काटना? और वे इस रास्ते पर लग भी गये, परन्तु जब मौके पर विशाखभूति ने जरा शब्दों का तीखा प्रहार कर दिया तो बेभान हो गए। और उससे घायल होकर अपने ज्ञानभाव से चूक गए तथा कषायभाव में आ गए। साथ ही उन्होंने निदान कर लिया कि इससे बदला लिए बिना नहीं रहूँगा।

तो एक हजार वर्षों तक तपस्या करने वाली आत्मा भी भटक गयी। और फिर से ऐसी जगह चली गयी, जहां से नर्क गति का बन्ध करना पड़ता है। कहावत है कि—"राजेश्वरी सो नरकेश्वरी"। यह यहां खरी उतरती है। प्रायः करके राजेश्वरी नरकेश्वरी होता है। राजा का पद लेकर, भार लेकर और आरम्भ परिग्रह को अत्यधिक सेवन करने वाला, वह राज पद पर रहता हुआ शक्ति सम्पन्न भी नर्क में जाता है। क्योंकि उसमें रौद्र ध्यान रहता है।

देखें, आर्तध्यान वाला प्रायः करके पशुगति और रौद्रध्यान वाला नर्क गति प्राप्त करता है। अतः ज्ञानियों ने कहा कि मानव! अपने आपको भटकाने से बचाना है तो आर्त और रौद्रध्यान मत करो। मौके पर परिस्थितिवश आर्त और रौद्रध्यान भी आ सकता है। परन्तु उस समय सोचना कि मैं इनसे अलग हूँ और ये मुझ से

अलग है। इनके वियोग और संयोग से मेरी न तो कोई हानि न कोई लाभ है। अगर इस बात को अच्छी तरह समझ लो, आर्त और रौद्रध्यान का शिकार नहीं होगे।

कर्म उदयदशा में प्रभावक होता है

विश्वभूति का जीव जब अठारहवें भव में आया तो अपने से आगे बढ़ता रहा। क्योंकि पुण्य का तेज उसके साथ था। जो का तेज लेकर आता है तो उसे पर की सहायता अपेक्षित नहीं रह राजा प्रजापति के घर में त्रिपृष्ठ के रूप में वह और उसका तेज बढ़ने लगा। जैसे कि कहा है—

> "तेज पराक्रम से बालक, जग ख्याति बढ़ाते हैं।
> अश्वग्रीव तब तीन खण्ड का, नाथ कहाते हैं।।
> अश्वग्रीव भावी वेत्ता से, पृच्छा करते हैं।
> कहो मरण मम कैसे होगा, शास्त्र बताते हैं।।"

बन्धुओ ! मैं बता रहा था कि कषाय और योग से संचित कर्म, चार दशाओं से गुजरता है। जैसे—बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता। किसके कैसे कर्म संचित हैं, यह उदय में आने पर ही मालूम होता है। कोई भी कर्म तभी असर करता है, जबकि वह उदय में आता है। सत्ता के कर्म बैंक में जमा रकम की तरह है। जैसे किसी श्रीमन्त के पास लाखों की पूंजी है, पर वह हाथ में नहीं, बैंक में जमा है। तो बैंक में जमा वाला करोड़पति और साधारण झोंपड़ी वाला गृहस्थ, क्रय-विक्रय के स्थान में बराबर दर्जे वाला होता है। यदि किसी करोड़पति की भी रकम बैंक में जमा है और गरीब के पास कुछ भी नहीं है, तो बाजार में दोनों बराबर होंगे।

इसी तरह शुभ कर्म भी जब तक सत्ता में रहते हैं, तब तक कोई लाभ नहीं देते। भले ही एक प्राणी की तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता है और वह अभी नर्क में पड़ा है। अगले भव में नरक से निकल कर तीर्थंकर बनेगा, यानी पहली चौबीसी का तीर्थंकर। मगर वह श्रेणिक का जीव अभी नरक में बैठा है, तो उसे नरक गति के दुःख

ही प्राप्त होंगे। कारण उदय निरय का है। तो नर्क में पड़े हुए को वह शुभ नाम कर्म क्या काम आया ? वह सत्ता में है, परन्तु अभी उदय में नहीं है। कहने का मतलब है कि दशायें दो हैं, एक सत्ता की और दूसरी उदय की। कर्म जब उदय में आता है, तभी अच्छा या बुरा फल देता है, पहले कभी नहीं।

साता सबको प्यारा

जो कर्म साता रूप शुभ फल देता है, वह आपको प्यारा लगता है, भला लगता है, और आप सदा मन से चाहते हैं कि शुभ फल देने वाला कर्म बना रहे तो बहुत अच्छा है। परन्तु असाता का उदय आ जाये तो मन की बेचैनी बढ़ जाती है। उस समय आप कहने लगते हैं कि पहले के दिन कितने अच्छे बीत रहे थे। पत्थर भी हाथ में लेते तो वह भी हीरा बन जाता था। भगवान् सदा साता ही बनाये रहें। इस तरह अच्छे कर्म का उदय, प्राणी हर समय बनाये रखना चाहता है। और आसाता-अशुभ कर्म का उदय कभी नहीं चाहता है। क्योंकि उसकी वेदना प्रतिकूल होती है।

जन साधारण यह नहीं जानता कि कर्म का उदय सदा एक जैसा नहीं रहता है। चक्र की तरह कर्म की गति बदलती रहती— ऊपर नीचे होती रहती है। इसलिए जब कभी भी अच्छे कर्मों के उदय का मौका हाथ लगे तो उस समय कुछ ऐसा कर्म कर लेना चाहिये कि जिससे पुण्य का बंध हो और अशुभ कर्म के बन्धन कट कर आत्मा हल्की हो। अच्छे कर्म का परिणाम भी पुण्य रूप और निर्जरा रूप से दो प्रकार का होता है। पुण्य रूप होते हैं तो शुभ सामग्री के बढ़ाने में सहायक होते हैं। और निर्जरा रूप होते हैं, वे कर्म बन्धन को तोड़ने में सहायक होते हैं। देवादिभव और उत्तम कुल पुण्य का प्रतिफल है।

त्रिपृष्ठ की माता और शुभ स्वप्न

कहा जा चुका है कि विश्वभूति का जीव, अपने अठारहवें भव में, माण्डलिक राजा प्रजापति के यहां उत्पन्न हुआ। उसके गर्भ में

आते ही माता ने सात स्वप्न देखे। तीर्थंकर और चक्रवर्ती की माता चौदह शुभ स्वप्नों को देखती हैं। जबकि वासुदेव की माता सात स्वप्न देखती है। और बलदेव की माता चार स्वप्न देखती है। ऐसे ही कोई सामान्य माण्डलिक या पुण्यशाली होता है तो उसकी माता मात्र एक स्वप्न देखती है। कभी शेर को देखले तो कभी हाथी को देखले, या कभी चन्द्र सूर्य को देखले। इस तरह का स्वप्न-दर्शन स्वस्थ दशा में हो तो प्रशस्त, शुभ और श्रेयस्कर माना जाता है।

सात स्वप्नों को देखकर माता ने उसको जन्म दिया। यदि वह कोई साधारण माता होती तो शेर को देख भयभीत होकर भाग खड़ी होती। आज की माताएं बिल्ली और चूहों की आवाज से डर जाती हैं। परन्तु त्रिपृष्ठ की माता तेज व ओज वाली थी। ऐसी वीर-माता की कुक्षि से जन्म पाने वाला बालक, ओजस्वी, तेजस्वी एवं बलवान् हो तो आश्चर्य ही क्या ?

अश्वग्रीव को त्रिपृष्ठ से आशंका

महाराज प्रजापति की तेजस्विनी महारानी से जन्म पाकर त्रिपृष्ठ दूज के चांद की तरह बढ़ने लगे। कहावत है कि—"होनहार बिरवान के होत चिकने पात।" जो होनहार होता है, वह छिपाये नहीं छिपता और न दबाये दबता ही है। त्रिपृष्ठ के जीवन में विद्युत की तरह तेजस्विता एवं ओजस्विता देखकर आस पास के सामन्त राजा कहने लगे कि प्रजापति का पुत्र तो बड़ा होनहार व भविष्णु है। इस प्रकार उसकी शूर-वीरता की हवा चारों ओर फैल गयी।

उस समय राजाधिराज अश्वग्रीव थे जो तीन खण्ड के नाथ कहला रहे थे। वे उस समय के प्रतिवासुदेव थे। वर्तमान में उनके मुकाबिले में कोई बड़ा राजा नहीं था। अतः वही सर्वेसर्वा थे। उन्हें भी इस पराक्रमी बालक के पराक्रम और तेज बल की कहानियां यदा कदा सुनने में आई। इस पर उन्होंने मन ही मन विचार किया कि मेरा भी मुकाबिला करने वाला और टक्कर लेने वाला कोई माई का लाल हो सकता है क्या ? शास्त्र कहता है कि प्रतिवासुदेव की

हत्या, वासुदेव के हाथों से होती है, तो क्या कोई मेरे अतिरिक्त भी वासुदेव हो सकता है ? शास्त्री लोगों की बात का कोई प्रमाण है ? इस प्रकार की चिन्ता में अश्वग्रीव निरन्तर चिन्तित रहने लगा। उसको ज्ञानियों की शिक्षा का स्मरण होने लगा। जिसमें कहा गया है कि—"संपदः पदमापदाम्।" अर्थात् सम्पदा विपदा का स्थान और सुख दुःख की खान है।

सुख का अतिक्रमण, दुःख का निमन्त्रण

इन्द्रिय जन्य सुख के पीछे दुःख की प्राप्ति निश्चित है। आप अच्छा खाइये, पहनिये, इन्द्रिय के किसी अन्य सुख का उपभोग कीजिए। जरा भी उसमें अतिक्रमण किया तो रोग के शिकार हो जायेंगे। नीतिकार भर्तृहरि ने ठीक ही कहा—"भोगे रोग भयं, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद् भयं।" यानी भोग में रोग का भय, उत्तम कुल पाकर सुख मानने में प्रतिष्ठा जाने का भय और धन में राज्य भय बना रहता है।

पैसा इकट्ठाकर लखपति से करोड़पति बनने में मन खुश रहता है। पैसे के लिए तो मनुष्य मद्रास, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में घूमता है। मगर द्रव्य के संचय में भय है या निर्भयता ? करोड़पति की हवेली के नीचे तल घर में एक साधारण हरिजन रहता है और सेठजी ऊपर में रहते हैं। जरा विचार कीजिए, भय ऊपरवाले को ज्यादा है या नीचेवाले को ? एक किरायेदार गरीब हरिजन जो मजदूरी करके गुजर करता है। उसके पास सम्पदा कम है तो भय और भीति भी कम है। और लखपति सेठ के पास सम्पत्ति अधिक है तथा करोड़पति के पास उससे भी अधिक। तो लखपति की अपेक्षा भय करोड़पति को ही ज्यादा होगा।

ऐसे ही करोड़पति से बढ़कर किसी अरबपति को, जिसकी बीसों मीलें चलती हैं, उसको इन सबसे अधिक दुःख है। क्योंकि धन के पीछे राजा का, चोर-डाकुओं का भय तथा भाई-भतीजों की भी

नजर लगी रहती है। पिता के बँटवारे में एक भाई को अधिक मिल गया तो कम पानेवाले भाई की टक्कर बनी रहती है। इस तरह जो भौतिक सुखों की सीमा का अतिक्रमण कर जाते, उसका परिणाम दुःखद होता है। वे अपने ही हाथों अपने लिए दुःख को आमन्त्रित करते हैं।

अश्वग्रीव एवं निमित्त ज्ञानी

आनेवाली आपत्ति की आशंका से अश्वग्रीव आतंकित हो ही रहा था। संयोगवश एक बार उस प्रति वासुदेव—अश्वग्रीव की राजसभा में एक भविष्यवेत्ता चला आया। भविष्यवेत्ता लोग ऐसे ही राजा, महाराजा एवं धनवानों के पास आते-जाते रहते हैं। किसी मिनिस्टर साहब की कुर्सी हटनेवाली हो तो वे भी उसके पीछे घूमते हुए मिलेंगे तथा पूछना चाहेंगे कि मेरी यह कुर्सी कायम रहेगी या चली जायेगी? आप सेठ लोग भी पूछते रहते हैं कि ज्योतिषी जी! अभी राज का मामला टेढ़ा चल रहा है तो हमारी इज्जत में कोई बट्टा तो नहीं लगेगा।

हां, तो महाराज अश्वग्रीव जो तीन खण्ड के नाथ तथा अपने युग के प्रति वासुदेव थे। उनको किसी भी बात की कोई कमी नहीं थी। धन, बल, कोष-कोठार, अस्त्र-शस्त्र और सैन्य सब परिपूर्ण थे। मगर किसी शास्त्री के मुंह से सुन लिया था कि प्रतिवासुदेव की मृत्यु वासुदेव के हाथ से होती है। अतः वे शंका ग्रस्त बने रहते थे कि मेरी मृत्यु किसके हाथ से होगी? अचानक निमित्त ज्ञानी को राज सभा में आया देख कर उनकी इच्छा उससे अपने भविष्य जानने की हुई।

शास्त्र सच्ची आंख है

ज्ञानियों ने शास्त्र को आंख कहा है। जैसे कि—

अनेक संशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

यानी अज्ञान एवं संशय का उच्छेद करने वाला तथा भूत, भविष्य और दूरस्थ अर्थ को दिखाने वाला, शास्त्र सब का नयन है। जिसको शास्त्र रूपी नयन नहीं है, वही अंधा है।

आप लोगों ने कुर्सी की कद्र की है, पैसे की भी कद्र की है। आपके घर में नोटों की गड्डियां सजी हुई मिल सकती हैं। परन्तु शास्त्र सजे हुए नहीं मिलेंगे। क्योंकि शास्त्रों के प्रति आप सबकी अभिरुचि और आदर नहीं के बराबर है। आपके यहां अन्य वस्तुओं का उपयोग होते हुए देखा जायेगा। परन्तु धर्म ग्रन्थों का, उपयोग कम ही होता होगा। किसी ने अच्छा समझकर कोई धर्म ग्रन्थ उपहार में भी दे दिया तो उसको आप गादी के नीचे दबा कर रख देंगे। और वह तभी निकलेगा, जब कभी गादी की सफाई की जायेगी।

अहमदाबाद में आगम समिति का काम चला। पूज्य घासी लाल जी म० के पास जो भी बड़े बड़े सेठिया गए और समिति के सहायक तथा आगमों के ग्राहक बने, संभव ही उन्होंने कभी कोई शास्त्र उठाकर पढ़ा होगा ? एक भाई के पास अहमदाबाद के मुद्रित शास्त्र मिले, जिसे उदई खा गई थी और वे सड़ गए मगर अभी तक ऐसा कोई सेठ नहीं मिला, जिसकी नोट-गड्डी को उदई खा गई हो ? क्या आप में से किसी के तिजोड़ी के नोट कीड़े लगने से बर्वाद हुए या सड़ गए ? ऐसा भी कभी मौका आया है ? नहीं ! क्योंकि आप बराबर उसकी सार-संभाल करते हैं। क्या घर में और पास के भण्डार में पड़े हस्तलिखित शास्त्रों को भी कभी संभाल करते हैं ?

इस तरह देखा जाता है कि आपके हृदय में नोटों की जो इज्जत है, वह शास्त्रों की नहीं है। परन्तु याद रहे ! शास्त्र आंख है। आज के बड़े बड़े वैज्ञानिक, ताज्जुब करने योग्य विज्ञान के तथ्यों का प्रकटन किसके सहारे करते हैं ? उन्होंने जो बेतार के तार निकाले, आदमी की आवाज को पकड़ने वाले टेप निकाले, रेडियो और टेली-वीजन का आविष्कार किया, पनडुब्बी, हवाई जहाज, मिसाइल,

है। रोग और शत्रु को उठते ही समाप्त कर देना चाहिये। इस नीति के अनुसार अश्वग्रीव—पानी आने से पहले पाल बांधने की बात सोचने लगा। अश्वग्रीव किस तरह मरने से बचने की कोशिश करेगा यह आगे सुनने से ज्ञात होगा।

याद रखो कि मनुष्य लाख यत्न करे परन्तु संचित कर्म के उदय के सामने चाहे कोई राजा हो या महाराजा-चक्रवर्ती हो, सभी को कर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है। इसलिए ज्ञानियों ने कहा कि बंधन काटना है तो दूसरे को मत देखो। दूसरा कोई मदद नहीं करेगा। तेरी आत्मा ही तेरी मदद करने वाली है। कषाय आत्मा और योग आत्मा को वश में करो एवं ज्ञानात्मा तथा चरित्रात्मा को जगाओ। यदि ये दोनों जागृत रहेंगे तो कषाय और योगात्मा अपना बल नहीं बता सकेंगे। इस तरह दोनों को वश में करने से आपके कर्म बन्धन कट कर, सिद्ध, बुद्ध बनने में भी देर नहीं लगेगी।

इस प्रकार वीतराग प्रभु की इस आध्यात्मिक शिक्षा को, अपने शुद्ध अन्तःकरण में जो भी व्यक्ति सहजभाव से धारण करेगा—अंगीकार करेगा तो इस लोक और परलोक में सुख-शान्ति का अधिकारी बन सकेगा।

●●

यानी मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। सुख और दुःख कहीं बाहर से नहीं आते। किसी और के द्वारा ये निर्मित नहीं होते। हम स्वयं इसके निर्माता हैं, कारण हैं। जैसे कि कहा है—

"आपदां कथितः पन्था, इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थात् इन्द्रियों का असंयम आपदाओं का मार्ग है और इन्द्रिय जय सम्पत्ति का मार्ग है—यह जानते हुए आपको जो मार्ग पसन्द हो उससे चलें।

सुख और दुःख इनके प्रयोग पर निर्भर

इनमें तारने और मारने दोनों की सामर्थ्य है। किसी कवि की यह वाणी सर्वथा सच है कि—"तुम मार भी सकते हो क्षण में, तुम तार भी सकते हो पल में। दुःख और अमृत का भरा हुआ, भण्डार तुम्हारे हाथों में। आवश्यकता है हमारे सही उपयोग की।

भगवान् महावीर ने कहा कि शरीर में कोई फोड़ा है, फुंसी है या पीड़ा-दर्द है, तो लोग उसको ही असमाधि मानते हैं। परन्तु असमाधि के असली मूल को नहीं ढूंढ़ते। अभी मुनिजी ने जिस मन, वचन और काया की, इस प्रसंग पर चर्चा की, उनमें एक 'वचन' भी है। वचन यदि सावद्य बोलोगे—पापयुक्त बोलोगे, कर्कश-कठोर बोलोगे, और पर पीड़ाकारी बोलोगे तो वह वचन तुम्हारी असमाधि-अशांति का कारण होगा। इसलिए ऐसा वचन, वाचक के लिए दण्डरूप है। यद्यपि वचन में असमाधिरूप दृष्ट नहीं होता, मगर दण्ड पाने में वह कारण होकर चलता है। और फल उससे मिलने वाली असमाधि है।

देखा जाता है कि संसार में जो सावद्य यानी झूठ बोलता है, समाज में उसका विश्वास उठ जाता है। लोग उसकी बातों की प्रतीति नहीं करते। कहावत प्रसिद्ध है कि—"जिसने अपना विश्वास गंवा दिया, उसने कुछ भी नहीं रखा, सब कुछ गंवा दिया। वस्तुतः

असमाधि के मूल कारण से बचो

शास्त्र कहता है कि इस प्रकार मिथ्या विचार, मिथ्या आचार और मिथ्या उच्चार, असमाधि के मूल कारण हैं। इन भीतरी कारणों से व्यक्ति को तत्काल असमाधि मिले या नहीं मिले, परन्तु समय पाकर उसका फल उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। कहावत प्रसिद्ध है—

"जब लग तेरे पुण्य का, पहुंचे नहीं करार।
तब लग तुमको माफ है, अवगुण करो हजार ।।"

अतः प्रत्येक इन्सान का यह कर्तव्य है कि वह असमाधि के मूल कारण से अपने को बचाये रखे।

असमाधि के मूल कारणों से बचने वालों के कर्मों की धूल-गंदगी नहीं लग पायेगी। आशातना से बचने पर, आत्मा के ज्ञानादि विमल गुण, मलिन नहीं होंगे। अतएव प्रभु ने कहा—"अप्पमत्तो परिव्वएज्जासि।" प्रमादरहित होकर विचरो। सुमेरु की चोटी से फिसलनेवाले को, उतना खतरा नहीं, जितना साधना में प्रमाद करने वाले को है। अतः शास्त्रकार ने कहा—"अप्पाहु खलु सययं रक्खियव्वो।" यानी आत्मगुणों की सदा सावधानी से रक्षा करो। ऐसा न हो कि भावावेश में, कहीं बाजी हार कर खाली हाथ लौटना पड़े।

क्षणिक वैराग्य से लाभ नहीं, पर क्षणिक कषाय से विनाश

मनुष्य के मन में बहुतोंबार, दुष्कृत से बचने की लहर उठती है—शुभ भावों के विचार उत्पन्न होते हैं। संसार में व्यर्थ बैठा हुआ व्यक्ति भी, ऐसी अच्छी बातों का कई बार विचार करता है। मगर वे सागर की लहरों के समान अस्थिर एवं चंचल होते हैं। क्षणिक वैराग्य की लहरें, सागर तरंगों की ही तरह आती और चली जाती हैं। ऐसे क्षणिक वैराग्य से, पल भर के मोह भंग से, आत्मा को अपेक्षित शांति नहीं मिलती, आराम प्राप्त नहीं होता। कारण, वैराग्य की भांति

सटोरिये के हाथ से, बाप-दादों की कड़ी मेहनत से उपार्जित सम्पत्ति की तरह, घड़ी भर भी उसके जाते देर नहीं लगती। तो जैसे जुआरी का लड़का, सटोरिया का लड़का, बाप-दादा की लाखों-करोड़ों की पूंजी को, सट्टे की एक दाव पर चढ़ाकर नष्ट कर देता है, ऐसे ममतालु जीव, क्षणभर के कषाय भाव में, चिर संचित तप को नष्ट कर देता है।

समाज में ऐसी कई करोड़पतियों की पेढ़ियां मिलेंगी, फर्में देखने को मिलेंगी कि जिनके गांव, परगांवों में, कई इमारतें थीं और सात पीढ़ी तक खावे तो भी पूंजी नहीं खुटे, इतनी बड़ी सम्पत्ति थी। किन्तु उनके लड़के जूए-सट्टे में ऐसे लगे कि सारी सम्पत्ति एवं कोठी-बंगले सब नष्ट कर दिए। जैसे जूए-सट्टेवाले, क्षणभर में सब नष्ट कर देते हैं—ऐसे ही प्रमाद और कषाय भी गुणों के समूह को नष्ट कर देते हैं।

अभी एक छोटा सा नमूना विश्वभूति के जीव त्रिपृष्ठ का आप सबके सामने है। मुनि ने हजार वर्ष तक तपस्या की, पर भाई की कषायपूर्ण एक बात ने क्षणभर में समस्त तप-बल को क्षीण कर दिया। त्रिपृष्ठ के रूप में उसने तन-बल, धन-बल और शस्त्रादि का सब बल पाकर भी आत्मिक बल को गंवा दिया।

आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में

विश्वभूति वासुदेव तो हुए, लौकिक पुण्यवानी भी पायी। परन्तु आत्म-सद्गति के अधिकारी बनने की दिशा में अयोग्य सिद्ध हुए। यह कषाय दूषित पुण्यवानी उनकी आत्मा के लिए गुणों में हानि का कारण बन गया। यद्यपि भौतिक सम्पदा मिलने में कोई कमी नहीं थी। धन-वैभव, कोष-कोष्ठागार एवं सुख-समृद्धि सब तरह से बढ़ी-चढ़ी थी। परन्तु आत्मिक गुणों की हानि होती रही। वह निदान के कारण सम्यक्त्व गुणों से, श्रावकपन से, साधु और संयति-भाव से वंचित हो गया।

कहां तो पूर्वकाल का तपस्तेज और अनुपम त्याग-वैराग्य और कहां यह छल-प्रपंचयुक्त भोगनुख, नदी के दो तटों की तरह बिल्कुल एक-दूसरे से अलग-थलग, मिलने में मजबूर। वह राज्यश्री को पाकर आत्मश्री से इतना वंचित हो गया कि जिसकी कुछ हद नहीं। अब एक ओर तो उनका जीवन और दूसरी ओर प्रतिपक्षी का जीवन—यानी बदला लेने के लिए शेररूप में उत्पन्न हुए विशाख-भूति का जीवन। दोनों आकुलता, व्याकुलता और भय-शोक से घिरे बैठे हैं।

अश्वग्रीव की चिन्ता

उस समय का राजाधिराज प्रतिवासुदेव के रूप में, तीन खण्ड का नाथ अश्वग्रीव था। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से, उनका भी वैरानुबंध चल रहा था। भविष्यवक्ता के वचन से उसने सुन रखा था कि वह एक आदमी के हाथ से मारा जायेगा। उसके मन में इस बात की चिन्ता घरकिए बैठी थी। वह सोचने लगा कि मेरा घातक, बल, वीर्य और धन आदि में मुझसे आगे ताकत दिखानेवाला बन रहा है। यह मौत का भय राजा अश्वग्रीव के मन को सता रहा था।

सांसारिक साधन-सम्पदायें—धन, परिवार और हुकूमत एवं प्रभाव की उसको कोई कमी नहीं थी। परन्तु एक चिन्ता घुन की तरह उसके मन को काट रही थी कि मरना पड़ेगा और वह भी किसी पराये के हाथों से। इससे उसका मन बहुत दुःखी था। भविष्य-वेत्ता ने कहा, जो आपके भेजे गए दूत को मार-पीटकर भगा देगा और तुंगगिरि पर्वत पर उत्पात करनेवाले बाघ को मारेगा, वही आपका प्राण लेगा। जैसे कि कहा—

"वही भूप तव घातक है, यों निमित्त गाते हैं।
सच्चाई निर्णय हित भूपति, दूत भिजाते हैं।।
प्रजापति की राजसभा में, शोर मचाते हैं।
देख कुंवर को रोष हुआ, घर पकड़ पिटाते हैं।।"

जो पापमुक्त नहीं, वह भयमुक्त नहीं

तीन खण्ड का नायक होकर भी अश्वग्रीव भय के मारे कांप रहा है। कहिए, भय किसको होता है? जो पापमुक्त नहीं, वह भय-मुक्त भी नहीं हो सकता है। जो पापमुक्त और दोपमुक्त होता, वह भय से भी मुक्त हो जाता है। यह छोटी-सी परिभाषा याद रखने और जीवन में उतारने योग्य है। अश्वग्रीव के इस कांपने का कारण, उसका क्रोध है, झूठ है, अन्याय है और दूसरों को परेशान एवं पीड़ा देने की भावना है। कहावत प्रसिद्ध है कि—

"दुःख दियां दुःख होत है, सुख दिया सुख होत।
जो तू हणे न और को, तोको हणे न कोय॥"

किसी को ऐसा मालूम हो जाये कि तुमको एक लड़का खत्म-कर देगा। तुम्हारी सेना एक ओर पड़ी रह जायेगी। तुम्हारा बल व्यर्थ साबित होगा, और तुम मारे जाओगे! तो फिर वह आदमी भयभीत और चिन्तित क्यों नहीं होवे? निमित्तवेत्ता ने—शकुन-शास्त्री ने कहा—महाराज! हमारा शास्त्र साफ कहता है कि तुंग-गिरि के पास जो शेर मारेगा वही आपको मारनेवाला है। भविष्य-वेत्ता भी जैसा समझ में आता है, कह देता है। कहने में कुछ संकोच नहीं करता। अश्वग्रीव मृत्यु के भय से संत्रस्त हो गया, अनुभवी संतों ने कहा—"मरणसमं नत्थि भयं।" अर्थात् मृत्यु के समान कोई भय नहीं है। कहा भी है—

"काल वेताल की धाक तिहुलोक में, देव दानव घर रोल घाले।
इंद नरिंद बांका बड़ा जोध, पण काल की फोज को कौन पाले॥
शील संतोष अवधिकर मुनिवर, काल को सांकडे घेर गाले।
जठे जन्म-जरा रोग शोक नहिं, वहां सुखा में जाय म्हाले॥
जठे काल को जोर कछु नहीं चाले॥"

अश्वग्रीव को मृत्यु का भय

भाई! काल से कौन डरता है? मृत्यु से कौन डरता है? त्यागी या रागी? यों तो मृत्यु का भय सबको होता है। परन्तु त्यागी

जन रागियों की अपेक्षा मृत्यु के भय से त्रस्त नहीं होते। आप
में, बंगले में, बाल-बच्चों और बीबी के बीच में मोह-ममत
बैठे हैं। इन सबके प्रति आपकी इतनी अधिक ममता है
बिछुड़ने की बात से ही आप उद्विग्न हो उठते हैं—दुःखी हो
किन्तु त्यागी इन सब में, ममता का सम्बन्ध छोड़ कर किना
बैठा है। वह सोचता है कि अब मैं इनका नहीं और अब
नहीं ! मैं तो भगवान् के चरणों में हूं। ऐसा सोचकर वह सब
मृत्यु से भी भय नहीं खाता—घबराता नहीं है। कोई अगर
त्यागी से कह दे कि महाराज ! सांस की गति तेज है, अब
करलो। आपका समय नजदीक आगया है। तो वे बोल उठेंगे
कैसी ! मैं तो तैयार ही बैठा हूं। मुझे यहां क्या लेना-देना और
किससे नाता-रिश्ता ! कहा भी है—

> "शूली ऊपर घर करे, विष का करे आहार।
> वाका काल कहा करे, जो आठों पहर होसियार।।"

अश्वग्रीव मृत्यु के लिए तैयार नहीं था। वह तो अठारह
पापों में लगा रहता था। मृत्यु के शब्द को सुनते ही उसका कर
कांपने लगता। उसने सोचा कि शत्रु को खुला छोड़ना उसमें
करना अच्छा नहीं। परीक्षा ही क्यों न करलूं ! उसने चन्द्रमेध
को बुलाया और कहा कि प्रजापति राजा का लड़का बड़ा तेजस्वी है
उसकी शूरता, वीरता तथा तेजस्विता की कहानियां चारों तर
फैल रही हैं। अतएव जाकर पता लगा कि बात क्या है ?

चन्द्रमेध का त्रिपृष्ठ से मुकाबिला

अश्वग्रीव ने मन ही मन सोचा कि कहीं प्रजापति का लड़का
ही तो मेरा काल बन कर नहीं आया है ? अथवा कोई दूसरा है, यह
तो परीक्षा से ही पता चलेगा। उसने जाते हुए चन्द्रमेध से कहा कि
तुम उसके यहां जाकर अपना राजकर वसूल करो। वह देने में देरी या
कुछ बहाना करे तो सख्ती दिखाने में संकोच मत करना।

आदेश के अनुसार दूत रवाना होकर प्रजापति की सभा में आया। उस समय प्रजापति की सभा में आमोद-प्रमोद का वातावरण चालू था। कुछ संगीतज्ञ और काव्य-कुशल विद्वान् भी वहां आए हुए थे। प्रमोदपूर्ण वातावरण के बीच संगीतज्ञों का कार्यक्रम था। सुनने और सुनाने की अच्छी व्यवस्था बना रखी थी। ऐसे आमोद-प्रमोद एवं राग-रंग भरी सभा में दूत पहुँचा। बड़े घर के दूत होने तथा स्वामी का कटु-संकेत पाने के कारण वह बेहूदे ढंग से बातें करने लगा। राजनियमों के कारण दूत का अपमान करने में, संकोच किया जाता है। आज भी बड़े पदाधिकारियों का कोई विशेष दूत आता है तो लोग घबरा जाते तथा सोचने लगते हैं कि यह क्यों आया है? विविध संशय और आशंकाओं का जाल सा बिछ जाता है।

उस समय आमोद-प्रमोद के प्रसंग में, संगीत लहरी के मोहक मधुर वातावरण में, इस दूत के बोलने से विक्षेप आने लगा तो राजकुमार ने सोचा—यह कैसा दूत है? एक तो यह सूचना दिये बिना चला आया और दूसरा ढंग से बात करने का भी इसे ध्यान नहीं। आखिर मेरे पिताजी भी राजा हैं। भले वह किसी बड़े की अपेक्षा से छोटे हों। मगर दूत को तो राजा का सम्मान करना ही चाहिये। यह तो उद्दण्ड और गंवार के जैसे व्यवहार कर रहा है। संभव इसको अपने अधिकार का कुछ अधिक घमण्ड है। अभी इसको यहां से निपटने दो—बाहर आयेगा तो देख लेंगे। यह अपनी करनी का फल पाये बिना आज यहां से नहीं जा पायेगा।

ज्योंही दूत उस राज्य सभा से अपनी उटपटांग बात कहकर विदा हुआ कि राजकुमार त्रिपृष्ठ को इसकी सूचना हो गयी। भरी जवानी एवं शरीर में पूर्ण बल होने से, उन्होंने झट से उसका हाथ पकड़ा और बाहें ऊंची कर बोले कि किसके भेजे हुए एवं कैसे आए हो! तुम्हें समय और बेसमय का भी कुछ ख्याल नहीं; फिर तुम कैसे दूत हो? पिताजी कार्य में लगे हुए थे, तो तुमको घड़ी भर

त्रिपृष्ठ सर्वथा निर्भय

राजा तो डर गए—पानी-पानी हो गए, मगर दूत को मार कर भगाने वाले त्रिपृष्ठ को इसके लिए किसी प्रकार का दुःख और भय नहीं था। उल्टे वह सोचता था कि उस उद्दण्ड दूत को, उसकी क्रिया के अनुरूप दण्ड नहीं मिला। उसको तो ऐसी सख्त मार पड़नी चाहिये थी कि जिसको वह जीवन भर नहीं भूलता, सदा याद करता! राजकुमार को अभी व्यावहारिक जगत से पाला नहीं पड़ा था। अतः उस पर लागलपट का रंग नहीं चढ़ा था। वह न तो अपनी ओर से किसी के साथ अन्याय करना चाहता था और न किसी के द्वारा अन्याय किया जाना ही पसन्द करता।

वहां से विदा होकर दूत महाराज अश्वग्रीव के पास पहुँचा। वह कैसे अपनी सारी घटित घटना अश्वग्रीव की सेवा में निवेदन करेगा, कैसे वे उसकी बात पर अनुमान लगायेंगे, अभी पूरी खबर न होने के कारण महाराज इस विषय में पूर्ण निश्चिन्त नहीं हो पाये।

अमरता के यात्री को किसका डर

संत कहते हैं कि अरे मानव! अमर होने के अधिकारी होकर, तुम डरते क्यों हो? अमरता प्राप्त करने का सुअवसर तो मनुष्य को ही मिलता है। किसी दूसरी योनि में यह अपूर्व लाभ नहीं मिलता। तप और संयम की आराधना करने से अमरता प्राप्त हो सकती है। इसके बजाय धन, कोठी और बंगले की आराधना करोगे तथा बाल-बच्चों के पीछे भागते फिरोगे एवं कहोगे कि यह धन मेरा, यह कोठी मेरी, यह बंगला मेरा, बाल-बच्चे मेरे, पत्नी मेरी, इस तरह मेरी मेरी में ही यदि उलझे रहोगे तो जंगल में मैं मैं करने वाले बकरे को जैसे शेर पकड़कर मार डालता है, वैसे ममता से मैं मैं करने वाले जीव को भी कालचन्द रूप शेर एक दिन दबोच लेगा और इन सारे मैं मैं के खेल को एक झटके में ही खत्म कर देगा।

१७

कर्म प्रबल है

विकथा और कथा

बन्धुओ ! धार्मिक शास्त्रों में जीव के बन्ध की जो दशा बताई गई है, उसका एक कारण है कि शास्त्रवाचना, संवर एवं निर्जरा के भाव को उत्पन्न करने में सहायक होती है। इसलिए शास्त्रवाणी को सही मानने में कथा कही गई है। संसार के अन्य विविध ग्रन्थकारों एवं विद्वानों की पुस्तकों या कृतियों में, राग बढ़ाने के प्रसंग अधिक होते हैं। इसलिए उन्हें धर्मकथा या शुद्ध अध्यात्म कथा नहीं कह सकते।

विकथा और कथा में बहुत बड़ा अन्तर है। लोगों में दोनों कही और सुनी जाती हैं। एक ही कथ-कथने धातु से दोनों शब्द बने हैं। परन्तु सम्यक् कथन करना और विरुद्ध कथन करना यही दोनों में अन्तर है। जो आत्मा के स्वभाव को शुद्ध करने में सहायक हो, वह कथा कहलाती है तथा सुननेवाले और पढ़नेवाले जिसको सुनकर एवं पढ़कर, विपरीत भावों में जायें, राग द्वेष और लोभ, मोह में बह जायें वही विकथा कहलाती है। सारांश यह कि मानव मन को भौतिकता से मोड़कर जो अध्यात्म भाव में स्थिर करे, त्याग-तप, संतोष-आर्जव में जोड़े, उसी को कथा कहते हैं। इसके विपरीत जो काम, क्रोध--भोगेच्छा और कीर्ति--कामना को बढ़ावा दे, वही विकथा है।

विकथा वर्जनीय है—छोड़ने योग्य है और कथा आचरणीय है। कथा के साथ एक "सु" पद जोड़ दीजिये तो सुकथा हो गई और वैसे ही "वि" जोड़ दीजिये तो विकथा बन जायेगी। विकथा से राग,

रोष, विषय, कषाय एवं भवप्रपंच की वृद्धि होती है। फिर भी सुनने-वाले को सरल, मनोरंजक एवं रोचक होने से विकथा पसन्द आती है—मन को भाती है। धर्मवाचना या भगवद्वाणी की वाचना से हम अनन्त-अनन्त काल के संचित जो भव रोग हैं, विकार हैं, मलिनता हैं, उसको दूर करने में समर्थ होते हैं। इसलिए भगवद्वाणी ही वास्तव में धर्मकथा और सुकथा है। वही कहने और सुनने योग्य है। कहा है कि—"सव्वाकहा धम्मकहा जिणाइ" अर्थात् सब कथाओं को धर्मकथा परिणाम की दृष्टि से जीतनेवाली है।

सुकथा से कर्म निर्जरा

सुकथा के कहनेवाले कहते-कहते और भगवद्वाणी को सुनने-वाले सुनते-सुनते कर्म निर्जरा कर लेते हैं। इस तरह कहनेवाले और सुननेवाले दोनों को लाभ है—उपकार है। पहला लाभ तो जुबान का पवित्र होना और कानों का पवित्र होना है। यह तो तात्कालिक लाभ है। और फिर दूसरा लाभ है कर्म निर्जरा। भगवद्वाणी के श्रवण और कथन में, यदि चित्त की एकाग्रता एवं श्रद्धा है तो वह धर्मकथा कर्म काटनेवाली भी हो सकती है। ऐसी कथा सुनने और सुनानेवाले के राग-रोष घटते हैं। परन्तु हर प्राणी को ऐसी विशुद्ध कथा सुनने और सुनाने का अवसर नहीं मिलता। बिना प्रबल पुण्योदय के शास्त्रवाणी के सुनने और सुनाने में मन ही नहीं लग पाता।

पुण्योदय के बिना धर्मरुचि नहीं होती

मानव का जब तक भाग्य अनुकूल नहीं होता, प्रबल पुण्य का उदय नहीं होता तब तक शास्त्र वचन सुनने और सुनाने में मन नहीं लगता। एक कहावत प्रसिद्ध है कि—

"जैसे ज्वर के जोर से, भोजन की रुचि नांय।
ऐसे कुकर्म के उदय से, धर्म वचन न सुहाय॥"

बन्धुओ! शास्त्रवाणी मनुष्य को तभी अच्छी लगती है, जबकि उसके पाप कर्म का उदय कम होता है। जैसे किसी को जोर

का ज्वर हो तब उसके मुँह का स्वाद बिगड़ जाता और खाने की इच्छा मिट जाती है। खाद्य पदार्थ चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो और प्रेमी लोग आग्रहपूर्वक खिलाना चाहते हों; तब भी वे उसको मुँह में लगाने को तैयार नहीं होते। बिना मन के यदि ऐसे को किसी प्रकार एक दो ग्रास खिला भी दिया तो वह उसे खारा लगेगा। कारण उसके शरीर में अभी दोष है—विकार है। तो जैसे शरीर के विकार में, भोजन रुचि से नहीं खाया जाता, वैसे मन के विकार में, भगवान् की वाणी और धर्माचरण में रुचि नहीं लगती मन को नहीं सुहाती हैं।

अच्छे कुल में, अच्छी स्थिति पाकर भी प्राणी, जीवन को बनाने के लिए, आत्म-कल्याण के वास्ते समय नहीं निकाल पाता। यद्यपि खाने-पीने, व्यापार-धन्धे आदि के कार्यों से बहुत कुछ समय बचा रहता है। उस समय को यदि शास्त्र-श्रवण, धर्मकथा और सत्साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने में लगाया जाये तो क्या ही अच्छा हो! इससे जीवन-निर्माण में कितना बल मिल जाये! परन्तु इसके बजाय होता क्या है? लोग उस बचे समय को, इधर-उधर की बातों में, हथाई करने में, दन्त कथा में—गप्पों और व्यर्थ के कामों में, बिता देंगे। परन्तु शास्त्रवाणी का पढ़ना अथवा सुनना पसन्द नहीं करेंगे।

पुरुषार्थ के बिना शुभ कार्य नहीं होता

यह सच है कि एक ओर आत्मा को हल्की होने का सुलभ साधन प्राप्त है और आदमी लाभ उठाने की इच्छा भी रखता है। परन्तु जब तक अवरोधक कर्मों को, दूर करने का पुरुषार्थ नहीं किया जाए, तब तक यह शुभ कार्य नहीं हो सकता है। इसके लिए बहुत बड़ी साधना करनी पड़ती है—प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है। जन्म जन्मान्तरों की साधना होती है, तभी मनुष्य अनुकूल मार्ग को पकड़ कर उस पर चल पाता है।

आप किसी भी महापुरुष के जीवन को देखिए, किसी भी तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती आदि के जीवन का निरीक्षण कीजिए। आपको पता चलेगा कि इनमें जो भी महापुरुष ऊपर आए हैं, संसार में चमके हैं, आदर्श बने हैं, साधारण पुरुषों से आगे बढ़कर महापुरुष के रूप में उपस्थित हुए हैं, वे ऐसे ही, अनायास नहीं हो गए हैं। बल्कि जीवन में बड़ी साधना की, परम पौरुष से काम लिया। तब कहीं आगे बढ़ पाये। एक छोटा सा तूंबा, जिस पर मिट्टी का गहरा लेप लगा हुआ है, पानी में डाल दीजिए—नीचे बैठ जायेगा। पर कुछ समय बाद, धीरे-धीरे मिट्टी गल जाने से वह सहज ऊपर आता है। वैसे यह जीव-भोग से कर्म दल के हल्के होने से कुछ उठता, पर बिना पुरुषार्थ के दीर्घकाल से भी उतना ऊपर नहीं आता है। इसके लिए उसे जन्म-जन्मान्तरों में अथक परिश्रम करना पड़ता है। तब कहीं उसकी महानता-विलक्षणता प्रगट होती है।

दुनिया के बहुत से आदमी ऐसे अकर्मण्य वृत्ति वाले मिलेंगे जो कहते हैं—महाराज ! कभी हमारा भी भाग्य जगेगा। कभी हमारे ऊपर भी भगवान् की कृपा होगी। और दूसरे भाग्यवानों की तरह प्रभु हमको भी हाथ पकड़कर ऊपर खींचेगा। तो हम भी ऊपर आ जायेंगे। तो मैं कहूंगा कि उनका ऐसा समझना और कहना कितने दीवानेपन का है ? अरे ! आदमी दो दिन का भूखा होने पर भी यह बात नहीं सोचता कि हमारे पेट में अन्न कभी आपसे आप पहुँच जायेगा ! भगवान् हमको भी खिला देगा !

भूख मिटाने के लिए, भूखे को भी कोशिश करनी पड़ेगी। कहीं से कुछ खाने की वस्तु मांगकर लेनी पड़ेगी। कदाचित् कोई स्वेच्छा से ही उसको धर्म स्थान पर कुछ लाकर दे दे, फिर भी ग्रास मुंह में रखने का प्रयास तो उस भूखे को ही करना पड़ेगा। यह सच है कि भारतीय परम्परा में, श्रद्धा से भगवान् के नाम से बैठनेवाले को भी दाना मिल जाता है। कोई भिक्षा के लिए नहीं गया और धर्मस्थान में ही विश्वास लेकर बैठ गया तो उसको भी भर पेट खाने को मिल

जाता है। कई ऐसे भी परोपकारी हैं जो खाली बैठे हुए को भी खिलाना पुण्य मानते हैं। हाँ, तो आप कहेंगे कि उसको भाग्य से मिल गया। परन्तु खाने के लिए मिहनत तो उसे भी करनी पड़ती है। ऐसा तो नहीं होगा कि बिना खाये, बिना चवाये और बिना पाचन क्रिया के ही रस रक्तादि बनकर शरीर को सहज पोषण मिल जाय।

यह तो एक ऐसा कर्म है, जिसमें कभी किसी को प्रतिनिधि बनाये काम चलने वाला नहीं है। हां, अबोध शिशु के मुँह में ममता-मयी माँ भोजन देती या खिला देती है। ऐसा तो नहीं होता कि अपने आप थाली की वस्तु पेट में चली जाय। ऐसे ही इस जीवन को ऊंचा बनाने के लिए भी, कुछ पुरुषार्थ की, उद्यम की, आवश्यकता रहती ही है। पुरुषार्थ के बिना जीवन महत्वपूर्ण नहीं बन पाता। कहा भी है—"उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः;"। यानी कार्य उद्योग से सफल होते हैं, मनोरथ मात्र से नहीं।

तदबीर के बिना तकदीर व्यर्थ

तकदीर के भरोसे बैठे रहने वाले, भाग्य के सहारे चलने वाले यदि तदबीर-उद्यम नहीं करेंगे तो वे जीवन में सफलता-सिद्धि हासिल नहीं कर सकेंगे। साधारण धरातल से कभी वे अपने आपको ऊपर नहीं उठा सकेंगे। ठीक ही है कि भाग्य को बनाने के लिए भी हर मनुष्य को मिहनत अवश्य उठानी पड़ती है। यह उर्दू जुबान वालों की बात है। परन्तु हिन्दी में भी कहा है कि भाग्य के साथ पुरुषार्थ की भी अपेक्षा रहती है। दोनों की जोड़ के बिना काम नहीं चलता। क्योंकि एक-दूसरे के बिना यानी दोनों के जुड़े बिना काम सिद्ध नहीं होता। एक के होने पर भी अगर दूसरे का साथ नहीं हुआ तो काम पूरा नहीं बन पायेगा। कहा भी है—

"काकतालीय वत् प्राप्तं, दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः।
न स्वयं दैवमादत्ते, पुरुषार्थमपेक्षते ॥"

को झूठ का दोष अधिक लगता है । क्योंकि उसके घर का संस्कार और वातारण वैसा ही होता है। क्षत्रिय कुल में जन्म लेनेवाले को, हिंसा का दोष वैसे वातारण के कारण ज्यादा लगता है । क्षत्रिय परिवार के लोगों ने नर्माई से बात करना सीखा ही नहीं है । उनका खून भी गर्म और खान-पान तथा रहन-सहन भी गर्म होता है ।

त्रिपृष्ठ राजकुमार के सामने एक ऐसा ही अवसर उपस्थित हुआ । एक बार अश्वग्रीव ने चन्द्रमेध नामक दूत को त्रिपृष्ठ की परीक्षा लेने प्रजापति राजा के पास भेजा । वह ऐसे समय में आया जबकि राजसभा में आमोद-प्रमोद एवं संगीत लहरी चल रही थी । उसने वहां पहुँचकर रंग में भंग कर दिया । यह देख त्रिपृष्ठ का मन बौखला गया । उन्होंने अपने बड़े भाई के संग मिलकर उसकी पिटाई की और उसे वहां से निकाल दिया जैसा कि पहले कहा जा चुका है । प्रजापति घबराये और दूत को समझा-बुझाकर भेजा । मगर उनके लड़कों को इसकी कोई परवाह नहीं थी । कारण घर भी ताकतवर फिर जवानी की अवस्था होने से दोनों के खून में गर्मी थी । पिता ने कहा कि तुम्हारे इस काम से कहीं अश्वग्रीव रूठ गए तो लेने के देने पड़ेंगे । परन्तु त्रिपृष्ठ ने कहा—पिताजी ! जो होगा सो हम देख लेंगे । आप इसकी चिन्ता न करिये ।

अश्वग्रीव की कुटिलता

दूत अश्वग्रीव महाराज के पास पहुँच कर वहां की सारी बात बताकर बोला कि महाराज ! आप सोचते होंगे कि प्रजापति हमारा सामंत है, आधीन रहने वाला है । किन्तु जहां तक प्रजापति का प्रश्न है, वहां तक आपका सोचना ठीक है । मगर प्रजापति के पुत्र बड़े तेज हैं, तीखे हैं और वे तो शान्ति से भी बात नहीं करते हैं । मुझको तो उन्होंने इतना पीटा, इतना पीटा कि जिसका कुछ पार नहीं । भाग्य अच्छा था—जिससे बच गया । ऐसे नौजवानों को आरम्भ से ही नियन्त्रण में रखा जाये तो ठीक है । नहीं तो पीछे वे अधिकार में आने वाले नहीं हैं ।

दूत के वचन सुनकर राजा ने जो कुछ विचार किया उसे एक कवि वाणी में सुनें, जैसे—

"दूत वचन सुन त्रिखण्डपति, मन रोष भराते हैं।
राजकुमार को दंडित करने, षड्यन्त्र रचाते हैं॥
तुंगगिरि के पास, शालि की कृषि कराते हैं।
मृगपति से आतंकित होकर, जन घबराते हैं॥
प्रजापति पर अश्वग्रीव, निज दूत भिजाते हैं।
शालि क्षेत्र की रक्षा का, आदेश सुनाते हैं॥" शासन"

परिवार और वातावरण का जो प्रभाव मानव मन के ऊपर पड़ता है, उसका असर दूसरों पर भी पड़े बिना नहीं रहता। जब अश्वग्रीव ने सुना कि छोकरे ने हमारे दूत को पीटकर भेज दिया तो उन्हें ज्योतिषी की कही बात याद आ गई कि तुम्हारे दूत को मारकर भगानेवाला ही तुम्हारी मृत्यु का निमित्त बननेवाला है। तुम्हारी निश्चित रूप से मृत्यु उसी के हाथ से होनेवाली है। बात मिलती देख अश्वग्रीव ने सोचा कि यह प्रजापति का पुत्र ही मेरी जान लेने-वाला है। अतः मैं पहले ही इससे सावधान हो जाऊँ तो ठीक। पानी आने से पहले ही पाल बांधना श्रेयस्कर है। अब मैं ऐसा उपाय करूँ कि यह मेरी जान ले, उससे पहले मैं, उसकी जान ले लूँ।

ऐसा विचार कर उसने ऐसी योजना बनाई कि तुंगगिरि की तलहटी में चावलों की खेती करवाई जाय। क्योंकि उस क्षेत्र में शेर चीते और दूसरे जंगली जानवर रहते जो इतने खूंखार थे कि उस क्षेत्र के रहनेवाले जन, उनके भय से, त्रस्त बन रहते थे। राजा ने सोचा कि वहां पर रक्षक लोग अस्त्र-शस्त्र लेकर खेती की रक्षा करेंगे। जिससे कि खेती नुकसान नहीं हो। मगर साधारण रखवालों के वश की तो यह बात नहीं थी। क्योंकि तुंगगिरि के आस-पास के क्षेत्र में, एक उन्मत्त शेर रहता था, जो रखवालों पर हमला करता तथा कभी-कभी जान से भी मारने लगा। ऐसी सूचना राजा के पास पहुँच चुकी थी।

इस छोटे से निमित्त को लेकर उन्होंने उस प्रजापति के छोकरे से बदला लेने की बात सोची और मन में निश्चय किया कि उन्हीं छोकरों को उस धान की रखवाली के लिए रखना चाहिये। उससे खेत की रक्षा होगी तो होगी। नहीं तो कदाचित् शेर ने मार दिया फिर मेरी चिन्ता का कांटा ही साफ हो जायेगा। ऐसा सोचकर अश्वग्रीव ने प्रजापति के नाम समाचार भेजे कि शालि-क्षेत्र की रखवाली के लिए, राजा ने आपको आदेश दिया है। वहां शेर का उपद्रव जोर पर है और वह नित्य एक न एक आदमी को मार रहा है। अतः वहां एक-एक सामंत की बारी रखने का निश्चय किया है। सामन्तों में तुम भी ताकतवर हो और तुम्हारे लड़के भी बलशाली हैं। तो उन्हें भेजकर या जैसे भी बन पड़े, इन रखवालों की जान बचाना तुम्हारा काम है। तुम इस ओर उचित ध्यान दोगे, ऐसा विश्वास है।

प्रजापति की चिन्ता एवं त्रिपृष्ठ का साहस

यह सन्देश लेकर जब दूत राजा—प्रजापति के पास पहुँचा और सन्देश सुनाया तो प्रजापति समझ गए कि यहां बदला लेने की भावना प्रकट हो रही है। छोकरों ने जो गलती की, उसका नतीजा मुझको भोगना पड़ेगा। नीतिज्ञों ने कहा भी है—"शिष्यापराधे गुरुर्दण्ड्यः तथैव पुत्रापराधेऽपि पिता दण्ड्यः।" यानी शिष्य के अपराध पर गुरु और पुत्र के अपराध पर उसका पिता दण्ड का पात्र बनता है। गलती तो छोकरे की और दण्ड मुझको भोगना पड़ेगा। इस प्रकार भविष्य का विचार करते प्रजापति चिन्तित हो उठे।

अपने पिता को चिन्ता-मग्न देखकर लड़कों ने पूछा—पिता जी ! आज आप इतने चिन्तित क्यों हैं ? इस पर प्रजापति ने कहा—तुम्हारे ही बोए हुए ये कांटे हैं। इनका फल तो पिता के नाते हमको भी भोगना पड़ेगा। इस पर लड़कों ने कहा—कि इसके लिए आपको घबराने की—चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। रखवाली के लिए हम दोनों भाई जाएंगे। त्रिपृष्ठ-वासुदेव के बड़े भाई बलदेव

होते हैं। एक ही घर में दोनों का जन्म होता है—ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है।

त्रिपृष्ठ ने जोर देकर महाराज प्रजापति से कहा कि आप हमें आदेश दीजिए। हम खेत की रखवाली करेंगे और उस खूनी शेर से निपटेंगे। अगर जान जाने वाली होगी तो चली जायेगी। और नहीं तो ऐसे कई खेल देखे हैं। इसमें घबराने और चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं है। बच्चों के लिए तो खिलौना चाहिये। हम भी शेर के साथ खेलना चाहते हैं।

प्रजापति ने सोचा कि बच्चे बड़े उत्पाती हैं। अभी इनके शरीर में बल है, जोश है तो उछालें भरना चाहते हैं। परन्तु परिणाम को सोचते नहीं हैं। यों ही मरने मारने को तैयार हो जाते हैं। इस तरह के चिन्तन के बाद भी प्रजापति के मन में, उनके शुभ लक्षणों तथा भविष्य वेत्ताओं के कहने से दृढ़ विश्वास था कि मेरे लड़के कभी पीठ दिखाने वाले—किसी से हार खाने वाले नहीं हैं। ये जहां भी जाएंगे, विजयश्री इनके संग रहेगी।

तकदीर और तदबीर के मेल से ही कार्य सिद्धि

अश्वग्रीव को दूत का परिणाम जानकर आधा विश्वास तो हो गया कि मेरा वधिक यही प्रजापति का पुत्र है। फिर भी वह भाग्य के भरोसे पर नहीं रहा। उसने दूसरी तदबीर लगायी। उसने सोचा इससे पता भी चला सकता है और शेर के द्वारा उसके मारे जाने से अपनी रक्षा भी हो सकती है। आदमी को जब तकदीर और तदबीर दोनों का संयोग मिलता है तभी बाहरी और पारमार्थिक काम पूर्ण होते हैं।

संसार में बन्धन बाँधने वाले तो बहुत होते हैं। परन्तु कर्म काटने वाले—भव प्रपंच मिटाने वाले कम होते हैं। आप और आपके घर के नौजवान बच्चे, घर में दो पैसे जुटाने वाले, सर्दी-गर्मी सब कुछ सहन करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि ऐसा करके हम लखपति

होंगे या नहीं ? आप यही समझते हैं कि पुरुषार्थ करेंगे तो लखपति बनेंगे ही। ऐसे ही इधर—धर्म के विषय में भी सोचें कि तकदीर से मनुष्य जैसा दुर्लभ-जीवन मिला है तो अब इस जीवन से धर्म कार्य में पुरुषार्थ करेंगे तो अवश्य कर्म टूटेंगे और बन्धन कटेंगे। ऐसा सोचकर हर आदमी पुरुषार्थ करेगा तो कर्मों का बोझा हल्का करना मुश्किल नहीं है। निश्चय ही तकदीर और तदवीर का सम्मिलन अभीष्ट सिद्धि में सहायक होता है।

कर्म काटना सरल नहीं है

कर्म बांधने का काम जितना सरल है, उतना काटने का काम सरल नहीं है। अकृष्ट रस के निदान वाला जब तक निदान के कर्म को भोग नहीं लेता, तब तक उससे छुटकारा नहीं पाता। क्योंकि निदान में अपनी करनी बेच दी जाती है। निदान का लाभ बदले के द्वारा मिलता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि मानव ! तुमको यहां करनी करने का अवसर मिला है तो हर्गिज इस करनी की बिक्री मत करो। इसको बहुत संभाल कर रखो। यह अन्त समय—मरण समय में काम आने वाली वस्तु है। सब कुछ सुधारा और अन्त—मरण नहीं सुधारा तो जीवन बिगड़ जायेगा।

जीवन सुधारने के लिए यह जरूरी है कि अपने जीवन को विषय कषायों से हटाकर धर्मराग में जोड़ा जाए। लोगों में वंश परम्परा से यह धर्म का अनुराग चला आ रहा है। समय समय पर जब कुटुम्ब वाले, परिवार वाले, राज ऋद्धि वाले, जीवन में धर्म के महत्व को समझा, तभी तभी संसार के वैभव को, सुख साधनों को, बाल बच्चों के मोह ममत्व को, लात मार कर वे अनगार बन गए—श्रमण बन गए। ऐसी बात नहीं है कि भूखे घरों से ही निकलकर साधु बनते हैं। बड़े बड़े ऐश्वर्यशाली, धर्म के दीवाने हो, जिन शासन में दीक्षित हुए हैं, होते हैं। स्त्री पुरुष, बच्चे और बूढ़े भी जब समझ जाते हैं कि जन्म के साथ मरण तो अवश्यंभावी है फिर यों ही राग में तलमलाते—छटपटाते क्यों मरें ! मरें तो कुछ आत्महित का

साधन कर ऐसा मरण मरें, जिससे फिर फिर कर मरना नहीं पड़े। ऐसा समझ कर वे "विषयान् विषवत् त्यजेत्" यानी शब्द रूपादि विषयों को विषवत् परित्याग कर देते।

अन्त सुधरना आवश्यक

मार्ग पर लगना और बात है, परन्तु त्याग मार्ग पर लगने के बाद मरण को अच्छी तरह समझना और उसे सुधारना एक बहुत बड़ी बात है। ज्ञानी सोचते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि मौत बिगड़ जाये। अन्तकाल बिगड़ गया तो सारी जिन्दगी क्या आगे का जीवन भी बिगड़ा समझना चाहिये। यही कारण है कि व्रती जीव को भी जो अंतिम समय भगवद् चरणों में, चिन्तन करते हुए प्रयाण करता है, समझना चाहिये कि उसने मार्ग को पार कर लिया है, भव-प्रपंच से किनारा कर लिया।

संसार में वे महापुरुष और महासतियां धन्य धन्य होते हैं जो कि साधना के पवित्र मार्ग पर लगकर, पुरुषार्थ से उसको पार लगा देते हैं। हम सबको उन साधकों के उजागर जीवन से शिक्षा लेनी चाहिये। उनका जीवन दोनों पहलुओं से खुश रहता है। वे जितने समय तक संयमी जीवन में, त्याग मार्ग में रहते हैं, तब भी परमानन्दी बने रहते हैं। और जब यहां से जाते हैं तब भी खुशी से जाते हैं। उनके लिए कभी कोई रंजगम की बात नहीं रहती। उनका जीवन तो एक परम समाधि का जीवन होता है। सामान्य साधकों और भक्तों को उनके शानदार जीवन से कुछ नसीहत लेनी चाहिये। हर साधु साध्वी के जीवन से प्रत्येक श्रावक श्राविकाओं को अपने जीवन में कुछ शिक्षा लेकर, जीवन को उच्च और आदर्श बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

महासती छोटांजी के जीवन से प्रेरणा ही सच्ची श्रद्धांजलि

ब्यावर में सती छोटांजी और रसालाजी दोनों पुरानी सतियां थीं। इनमें से छोटांजी ने संथारा कर लिया और जल्दी से उसे पूर्ण

कर स्वर्ग सिधार गयीं। संथारापूर्वक उनका मरण एक महती समता की साधना है। इससे मन को एक बड़ी प्रेरणा मिलती है कि जीवन को त्यागपूर्ण बनाते हुए, अन्त में ऐसा निराकुल भाव प्राप्त किया जाय। जीवन लीला का शांत भाव से पटक्षेप कर लेना कोई ऐसी वैसी साधारण बात नहीं है। इससे बढ़कर साहस और जवांमर्दी का काम जीवन के किसी भी क्षेत्र में, कोई दूसरा नहीं है।

संतसती संघ के अंग होते हैं। वे जितनी अधिक मात्रा में होते हैं, सांसारिक जीवों को उतना ही अधिक शुभ निमित्त मिलता है। और इनकी कमी अशुभ निमित्त का सूचक है। मगर हमारे यहां साधु साध्वियों के शरीर त्याग को शोक की नजर से नहीं देखा जाता। इसके लिए कोई बैठक नहीं होती। परन्तु एक स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति, शिक्षा लेने के लिए, उनके जीवन के सम्बन्ध में, श्रद्धांजलि के रूप में दो शब्द कहना ठीक रहता है।

मैं जानना चाहूंगा कि उन त्यागी जनों के साथ आपका क्या सम्बन्ध है? जैसे अपने परिवार वालों से आपका आत्मीय सम्बन्ध है, ऐसे ही संत सतियों से आपका सम्बन्ध है या नहीं? घर की खाली जगह के लिए, आप पूर्ति की इच्छा ही नहीं बल्कि प्रयत्न भी करते हो। तो क्या सतीजी के रिक्त स्थान को भरने का भी मन में ख्याल आता है या नहीं? आप घर की शादी व्याह के खर्चे की रकम पूर्ति के लिए कभी कसर नहीं रखते। परन्तु इधर संघ में किसी आत्मा का स्वर्गवास हो गया तो उसकी पूर्ति की चिन्ता क्यों नहीं करते?

संघ को घर से और परिवार से भी बढ़कर समझोगे तब काम चलेगा। ऐसी उपेक्षा से काम होने वाला नहीं है। भग० महावीर की सेना में भी, समय-समय पर श्रावक श्राविकाएं भर्ती कराते रहो। इस सेना में भर्ती होने वालों का न सिर्फ यह जन्म बल्कि भविष्य का जीवन भी सुधरेगा। अनन्त अनन्त पीढ़ियां अमर बन जायेंगी। ऐसे सोचने वाले भी होते रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे।

संसार का यह जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है। हमको इससे शिक्षा लेनी है—

"हंसके दुनिया में मरा कोई, कोई रोके मरा।
जिन्दगी पाई मगर उसने, जो कुछ होके मरा॥"

दुकान पर बैठकर नोट गिनते मरोगे, उससे अच्छा तो माला गिनते मरना है। हाथ पैर चलते दुकान जाने का सोचने वालों को क्या काल का कुछ पता है? एक दिन इस समस्त कारोबार को छोड़कर जाना ही पड़ेगा, तो क्यों न होश में ही इन्हें छोड़ कर अपना अन्त सुधारने का निर्णय करो। नोटों को गिनने के बजाए, भगवान् का नाम गिनने और तत्व की बात कहते सुनते रवाना होना श्रेयस्कर है। मदनगंज के हलुकर्मी भाई बादरमलजी बैठे-बैठे चले गए। भावना के अनुकूल उन्होंने मेरी मांगलिक सुनली और फिर चले गए।

महासती छोटांजी का मरण संथारे के साथ हुआ। जिनकी आत्मा शुद्ध, सरल, एवं शान्त होती है, उनका मरण शुभ होता है। आप सबको भी यह लक्ष्य बनाये रखना चाहिये कि मरण सुधरे। अगर ऐसा चाहते हैं तो इन संत सतियों से प्रेरणा लीजिए और मरने से पहले विषय कषाय की गांठों को ढ़ीली कर लीजिए। सतीजी के स्वर्गवास पर हम उनकी आत्मा की चिर शान्ति के लिए शुभ कामना करते हैं। और उनके सद्गुणों को अपना कर, साधना के मार्ग पर आगे बढ़ सकें तो हमारा भी कल्याण हो सकेगा। सतीजी के सद्गुणों के प्रति यही हमारी श्रद्धांजलि है।